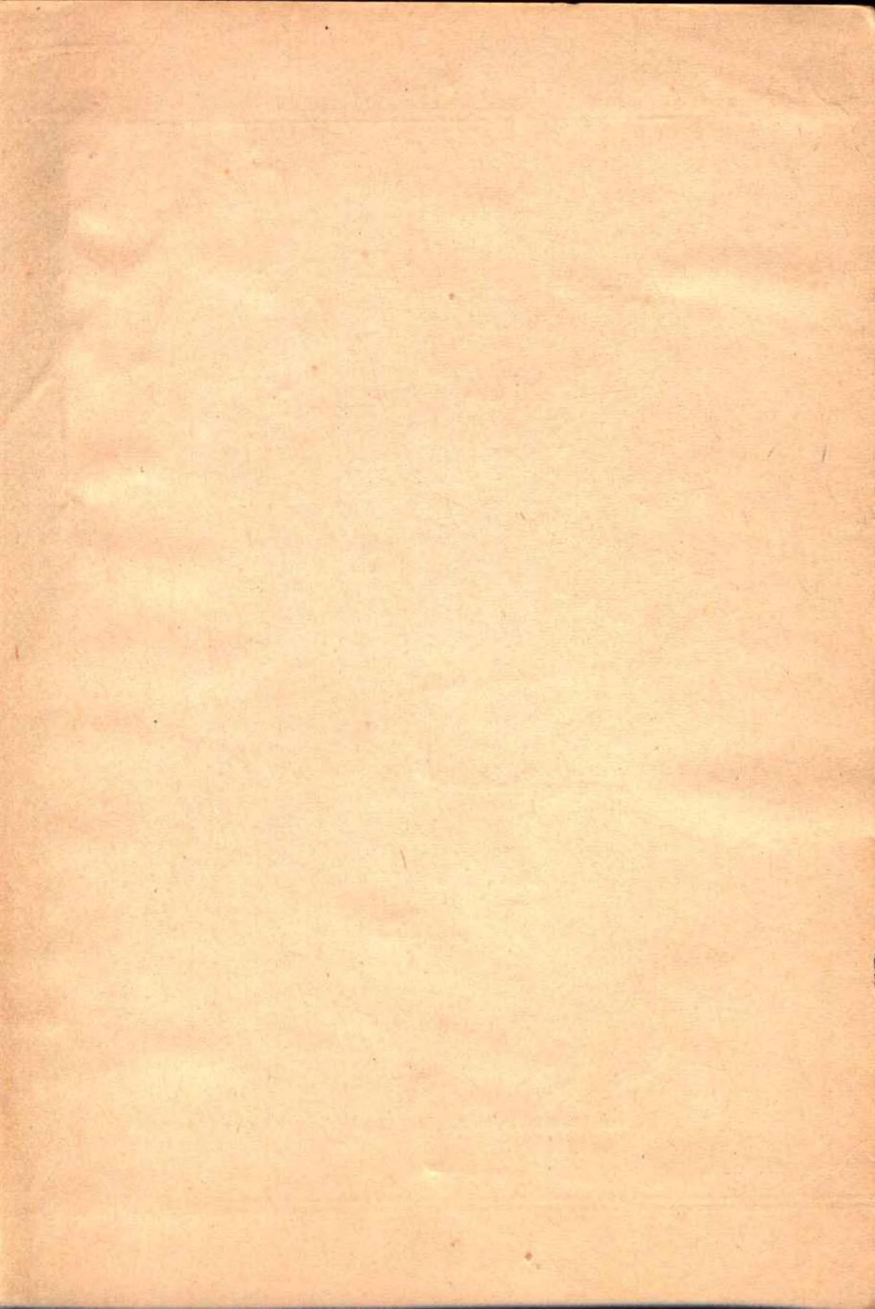
संत-समागम

भाग १

(एक ब्रहमनिष्ठ सन्त के उपदेश)



मानव सेवा संघ प्रकाशन
वृन्दाबन



सन्त-समागम

भाग-१



एक ब्रह्मनिष्ठ सन्त के उपदेश

भारत सरकार द्वारा प्रदत्त रियायती कागज पर मुद्रित

सातवीं बार ५५००] [जनवरी १९८३

प्रकाशक :

मानव-सेवा-संघ

वृन्दावन,

मथुरा ।

★

संस्करण—सातवाँ (५५००)

★

मूल्य ३) रुपये ।

★

मुद्रक :

राजेन्द्र सिंह

मयूर प्रेस,

बद्री नगर फोन : ४४६४

मथुरा ।

॥ ॐ ॥

प्रार्थना

[प्रार्थना आस्तिक प्राणी का जीवन है]

मेरे नाथ,
आप अपनी
सुधामयी,
सर्वसमर्थ,
पतितपावनी,
अहैतुकी कृपा से,
दुखी प्राणियों के हृदय में
त्याग का बल,
एवम्
सुखी प्राणियों के हृदय में
सेवा का बल
प्रदान करें,
जिससे वे
सुख-दुख के
बन्धन से
मुक्त हो,
आपके
पवित्र प्रेम का
आस्वादन कर,
कृतकृत्य हो जांय।

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !! ॐ आनन्द !!!

परिचय

"सत्य अनन्त है, पुस्तक आदि में सीमित नही हो सकता। सत्य अपना परिचय देने में स्वयं स्वतन्त्र है।" ये शब्द हैं उन सन्त के, जिनकी अमृत-वाणी इस पुस्तक में संगृहीत हुई है। इसी अटल सत्य को लक्ष्य में रखकर आग्रह करने पर भी स्वामी जी ने अपना शरीर-सम्बन्धी नाम तथा चित्र इस पुस्तक के साथ देने की अनुमति नहीं दी। इस सत्य का आदर करना मेरे लिए भी अनिवार्य है। अतः जो सत्य स्वामीजी की वाणी के रूप में प्रकट हुआ है, उसके सम्बन्ध में अपनी ओर से कुछ कहने या उसका परिचय देने की चेष्टा करना मेरे लिए धृष्टता होगी। वह तो स्वयं प्रकाशमय है और केवल अपना परिचय देने में ही नहीं, बल्कि श्रद्धालु पाठकों के हृदयों को भी आलोकित करने में स्वयं समर्थ है। मुझे जो कुछ कहना है, वह केवल इस संग्रह के विषय में है; क्योंकि इसका एक इतिहास है, जिसका संक्षेप में यहाँ देना अप्रासंगिक न होगा।

सन् १९४० ई० में लखनऊ के कुछ भक्तों को श्री स्वामीजी के सत्संग का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वे भक्त स्वामीजी के शब्द लिपि-बद्ध करते गये। पीछे से श्री गणेशप्रसाद जी तथा श्री नानकप्रसाद जी के प्रयत्न से उनकी वाणी का वह संग्रह "सन्त-समागम" के नाम से छप गया है। अतः सन्त-समागम को पुस्तक रूप में लाने का मूल श्रेय इन्हीं महानुभावों को है।

कुछ ही समय बाद सौभाग्य से श्री स्वामी जी का अजमेर में आगमन हुआ और वहाँ मुझे भी उनके दर्शन तथा सत्संग में सम्मिलित होने का सुअवसर प्राप्त हुआ। उस सत्संग में उनके मुखारविन्द से निकले उपदेश भी लिख लिए गये। अपने तथा मित्र-वर्ग के लाभार्थ उन्हें छपाने का विचार हुआ। खोज करने पर मित्रों की कृपा से स्वामीजी के कुछ पत्र भी प्राप्त हो बये, जो उन्होंने भक्तों की उलझनें सुलझाने के लिए लिखाये थे। इस प्रकार सन् १९४२ ई० में, लखनऊ से प्रकाशित "सन्त-समागम" अजमेर के उपदेशों का संग्रह और उन पत्रों को मिलाकर सन्त-समागम अपने संवर्द्धित रूप में प्रथम बार अजमेर से प्रकाशित हुआ।

जिज्ञासुओं में पुस्तक की इतनी माँग हुई कि दो ही वर्ष के भीतर प्रथम बार छपी २००० प्रतियाँ समाप्त हो गयीं। कई पत्रिकाओं ने भी अपनी समालोचनाओं में पुस्तक का हार्दिक स्वागत किया। एक ने लिखा कि "जटिल से जटिल दार्शनिक तत्वों तथा आध्यात्मिक रहस्यों की अभिव्यक्ति इतने सीधे सादे निर्विवाद ढंग से अन्यत्र देखी नहीं गई"—आदि। अनेक महानुभावों ने सराहा कि भक्ति, ज्ञान, कर्म आदि मार्गों का स्वामीजी के उपदेशों में अनूठा विवेचन पाया जाता है एवं जिस सत्य को सभी मार्ग खोजते हैं, पर जो एक प्रकार से मार्गातीत है, उसका संकेत भी अधिकारी-गण इन उपदेशों में पाकर कृत-

कृत्य होते हैं। फलतः पुस्तक की माँग बढ़ती ही रही। अन्य कार्यों से मुझे अवकाश न मिलने के कारण प्रथम भाग के दूसरे तथा तीसरे संस्करण प्रकाशित करने के लिए दिल्ली के मानव-धर्म-कार्यालय के संचालक श्री दीनानाथ जी 'दिनेश' को कष्ट देना पड़ा। उन्हीं के सहयोग से वे संस्करण निकल सके, जिसके लिए वे हमारे धन्यवाद के पात्र हैं।

भक्तों में स्वाजी के अन्य उपदेशों को भी पुस्तक-रूप में प्राप्त करने की इच्छा प्रबल होती गई। कुछ भक्तों की प्रार्थना पर स्वामी जी ने "हमारी आवश्यकता", "शरणागति-तत्व" और "परिस्थिति का सदुपयोग" नाम के तीन निबन्ध भी लिखवाये, जो पृथक-पृथक पुस्तिकाओं के रूप में प्रकाशित भी हुए,। अन्त में ये तीनों पुस्तिकायें, स्वामी जी के अन्य उपदेश, (जिनमें से कुछ 'कल्याण' आदि में प्रकाशित हो चुके थे) तथा अप्रकाशित पत्र संगृहीत किये गये और वे सन्तसमागम के दूसरे भाग के रूप में प्रकाशित हुए। यह दूसरा भाग भी श्री दिनेश जी के सहयोग से ही प्रकाशित हुआ।

गतवर्ष स्वामीजी की प्रेरणा से "मानव-सेवा-संघ" की स्थापना हुई। तब कुछ भाईयों ने यह इच्छा प्रकट की कि स्वामी जी की वाणी का प्रकाशन और प्रचार 'संघ' के द्वारा ही होना उचित है। इसी इच्छा का आदर करके सन्त-समागम के दोनों भाग 'मानव-सेवा-संघ' द्वारा प्रकाशित किये जा रहे हैं।

सन्त-समागम पुस्तक के रूप में नहीं लिखा गया है और न वह क्रम-बद्ध निबन्धों का संग्रह ही है। सत्संगों में जिस क्रम से प्रश्न उठे, उसी क्रम से उनके उत्तरों का संग्रह किया गया। इसी प्रकार पत्र भी विषय के अनुसार क्रमबद्ध न होकर प्रायः लिखे जाने की तिथियों के क्रम से ही रक्खे गये हैं। पुस्तकों के विभिन्न अंश विषय को दृष्टि में रखकर जिस प्रकार की स्वाभाविक श्रृङ्खला में गुंफित रहते हैं, उस प्रकार की श्रृङ्खला का यहाँ अभाव है। पुस्तक पढ़ते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए। पत्रों में भी व्यक्तिगत प्रश्नों का उत्तर तथा व्यक्तिगत-समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न है; अतः प्रसंग के अनुसार ही सब कहीं अर्थ लगाना समीचीन हो सकता है। कई बातें प्रसंग-वश अनेक बार भी आ गई हैं, किन्तु उन्हें भिन्न-भिन्न रूप में पढ़ने से समझने में सहायता ही मिलती है।

जयपुर
अनन्त चतुर्दशी,
संवत् २०१० विक्रमीय

मदन मोहन वर्मा
प्रधान
मानव सेवा संघ

प्रकाशकीय

सन्त-समागम भाग १ का यह सातवाँ संस्करण है। पूर्व संस्करण की अशुद्धियों को ठीक करके छपाने की चेष्टा की गई थी। फिर भी कुछ अशुद्धियाँ रह ही गई हैं। जिसका हमें खेद है। प्रेमी पाठक पुस्तक के अन्त में दिए गए शुद्धि-पत्र देख लेने की कृपा करेंगे।

—मा. से. सं.

सन्त-समागम

भाग-१

संत-समागम

भाग १

लखनऊ का सत्संग

४ जनवरी १६४०

ध्यान किस प्रकार हो सकता है। ध्यान करने वाले महानुभावों को यह भली प्रकार जान लेना चाहिये कि वे किसका ध्यान करना चाहते हैं, क्योंकि ध्येय के ज्ञान के बिना ध्यान किसी प्रकार नहीं हो सकता और प्रेम-पात्र का ज्ञान होने पर ध्यान अपने आप हो जाता है, क्योंकि जिसका ज्ञान नहीं होता उसका ध्यान किसी प्रकार नहीं हो सकता।

ध्यान का फल ज्ञान से संसार के बंधन टूट जाते हैं और ध्यान से आनन्द की अनुभूति होती है। बंधन टूटते ही संसार की वासनाओं का त्याग हो जाता है। इससे ज्ञान होने पर ध्यान स्वयं हो जाता है।

कर्म क्यों होता है? जब तक हृदय में किसी प्रकार की विलासिता जीवित है तब तक ही शुभ तथा अशुभ कर्म में रुचि होती है।

विलासिता का अन्त होने पर त्याग के भाव उत्पन्न होते हैं, फिर कर्म में रुचि बिलकुल नहीं होती और त्याग आ जाने पर हृदय में प्रेम उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि किसी का त्याग ही किसी का प्रेम हो जाता है ।

× × × ×

त्याग का फल त्याग और कर्म में यही भेद है कि त्याग संसार के चढ़ाव (मूल) की ओर और कर्म संसार के बहाव की ओर ले जाता है । जिस प्रकार नदी के चढ़ाव की ओर चलने वाला नदी का अन्त करके नदी के कारण को जान लेता है उसी प्रकार त्याग करने वाला संसार के कारण को जान लेता है ।

कर्म का फल जिस प्रकार नदी के बहाव की ओर जाने वाला महासागर में डूबकर बार-बार उसी पानी में चक्कर लगाता है, अर्थात् नदी के कारण को नहीं जान पाता, उसी प्रकार कर्म करने वाला घोर संसार में चक्कर लगाता है, परन्तु संसार के कारण को नहीं जान पाता ।

—※—

५ जनवरी १९५०

आदर और अनादर तथा सुख-दुख क्यों होता है ? कर्ता ने अपने को जिस भावना से बाँध लिया है उस भावना के अनुसार क्रिया करने पर कर्ता उस समुदाय में आदर पाता है और भावना के विपरीत क्रिया करने पर अनादर पाता है। आदर से सुख और अनादर से दुख अपने आप होता है ।

गुरु और ग्रन्थ की आवश्यकता क्यों होती है ?

अपने कर्त्तव्य का यथार्थ ज्ञान करने के लिये गुरु और ग्रन्थ की आवश्यकता होती है।

क्या गुरु और ग्रन्थ के बिना कर्त्तव्य का ज्ञान नहीं हो सकता ?

गुरु और ग्रन्थ के बिना भी कर्त्तव्य का ज्ञान हो सकता है,यदि कर्त्ता को कर्त्तव्य के ज्ञान के लिये सच्ची व्याकुलता उत्पन्न हो जाय। जिसको व्याकुलता नहीं उत्पन्न होती उसको बाहरी सहायता लेनी आवश्यक है।

व्याकुलता उत्पन्न होने पर कर्त्तव्य का ज्ञान कैसे होता है ?

व्याकुलता अग्नि के समान है, अतः वह सब प्रकार के विकारों को जला देती है और हृदय आदि को शुद्ध कर देती है।

हृदय के शुद्ध होने पर कर्त्तव्य का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। जिस प्रकार साफ की हुई मिट्टी ही दूरबीन का काँच है जिससे बहुत दूर का दिखाई दे जाता है (बिना साफ की हुई मिट्टी से नहीं) उसी प्रकार अन्तःकरण आदि के शुद्ध होने से कर्त्तव्य का ज्ञान दिखाई दे जाता है।

ऐसे महापुरुष (विचारशील पुरुष) को गुरु और ग्रन्थ की आवश्यकता नहीं होती।

कर्त्तव्य-पालन करने से क्या लाभ होता है ?

कर्त्तव्य-पालन करने पर कर्ता अभय हो जाता है अर्थात् बंधन से छूट जाता है और किसी प्रकार का दुःख शेष नहीं रहता, गरीबी सदा के लिये मिट जाती है। 'करने' से छूट जाता है, सीमित भाव का अभाव हो जाता है।

वैराग्य क्या है ? संसार से सच्ची निराशा आ जाने पर जीवन में ही मृत्यु का अनुभव हो जाता है; यही वास्तव में वैराग्य है।

अभ्यास क्या है ? अपने को सब ओर (संसार) से हटा लेना ही अभ्यास है।

अभ्यास से क्या लाभ होता है ? जो अपने को सब ओर से हटा लेता है, वह अपने में ही सब कुछ (स्थायी आनन्द) पा लेता है।

संसार का स्वरूप क्या है ? (१) इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का सद्भाव होने पर संसार सत् मालूम होता है।

(२) बुद्धि-जन्य ज्ञान का सद्भाव होने पर संसार असत् मालूम होता है।

(३) अनुभव-जन्य ज्ञान से संसार का अभाव हो जाता है। अतः सत्, असत् और अभाव-ये संसार के तीन स्वरूप मालूम होते हैं।

इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का सद्भाव क्यों होता है ? विषयों का राग होने पर इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का सद्भाव होता है।

बुद्धि-जन्य ज्ञान का सद्भाव क्यों होता है ? विषयों का राग मिटने पर अर्थात् विचारपूर्वक वैराग्य होने से बुद्धि-जन्य ज्ञान का सद्भाव होता है।

[वैराग्य उसी समय तक जीवित है, जब तक किसी न किसी प्रकार का राग है।]

राग समूल मिटने पर वैराग्य अपने आप मिट जाता हैं। राग और वैराग्य के मिटते ही अनुभव-जन्य ज्ञान का सद्भाव हो जाता है।

अनुभव-जन्य ज्ञान, ज्ञान का स्वरूप है और बुद्धि-जन्य ज्ञान व इन्द्रिय-जन्य ज्ञान, ज्ञान का गुण है अर्थात् इन दोनों का ज्ञान स्वरूप नहीं है, इसीलिये घटता बढ़ता है।

राग मिटने पर वैराग्य कैसे मिट जाता है। वैराग्य अग्नि के समान है जो रागरूपी लकड़ी को जलाता है। जिस प्रकार लकड़ी का अभाव होते ही अग्नि अपने आप शान्त हो जाती है, उसी प्रकार राग का अभाव होते ही वैराग्य, और अविचार का अभाव होते ही विचार, तथा अज्ञान का अभाव होते ही ज्ञान, और भोग का अभाव होते ही योग, स्वतः मिट जाता है। अर्थात् सभी गुण दोष के आधार पर जीवित हैं; अतः दोषों का अभाव होने पर गुण अपने आप मिट जाते हैं।

वास्तव में तो जिस प्रकार प्रकाश की कमी ही अँधेरा है, उसी प्रकार गुणों की कमी ही दोष है।

राग क्यों होता है? सुख से राग का जन्म होता है, क्योंकि यदि विषयों में सुख न मालूम पड़े तो राग नहीं हो सकता। विषयों में सुख-भाव अविचार से होता है, अविचार ज्ञान की कमी से होता हैं और ज्ञान की कमी अपने को शरीर समझने पर होती है। इन सब कारणों से ही राग का जन्म होता है।

दुःख क्यों होता है ? सुखरूप बीज से ही दुःखरूप वृक्ष हरा-भरा होता है, क्योंकि ऐसा कोई दुःख नहीं है कि जिसका जन्म सुख से न हुआ हो।

दुःख और सुख का परिणाम ? जो सुख किसी का दुःख बन कर मिलता है, वह मिटकर कभी न कभी बहुत बड़ा दुःख हो जाता है, क्योंकि उसका जन्म दुःख से हुआ था। और जो दुःख किसी का सुख बन कर मिला है वह मिटकर कभी न कभी आनन्द में बदल जायेगा, क्योंकि प्राणी सुख से बँधता है और दुःख से छूट जाता है। अर्थात् सुख से दुख और दुःख से आनन्द मिलता है।

त्याग का स्वरूप क्या है ? संसार की अनुकूलता तथा प्रतिकूलता पर विश्वास का अत्यन्त अभाव ही सच्चा त्याग है क्योंकि अनुकूलता से राग और प्रतिकूलता से द्वेष होता है। राग-द्वेष का अभाव हो जाना ही त्याग है।

जिस प्रकार लड़की पिता के घर कन्या और ससुराल में बहू तथा पुत्रवती होने पर माता कहलाती है, उसी प्रकार त्याग ही प्रेम और प्रेम ही ज्ञान कहलाता है।

त्याग होने पर आस्तिकता आ जाने से त्याग प्रेम में, और आस्तिकता का यथार्थ अनुभव होने पर प्रेम ज्ञान में बदल जाता है।

—*—

६ जनवरी १९४०

आस्तिकता क्या है? सभी प्रकार के कर्मों का त्याग होने पर जो शेष रहता है उसका अनुभव ही आस्तिकता है। जिस प्रकार कमरों के मिटा देने से मकान की सत्ता कुछ नहीं रहती, उसी प्रकार सब प्रकार के कर्मों का अन्त होने पर कर्ता कुछ नहीं रहता, कर्म और कर्त्ता के मिटते ही अचल नित्य सत्ता शेष रहती है। क्योंकि कर्म से किसी प्रकार स्थायी प्रसन्नता नहीं मिल सकती, इसलिये जब तक कर्म से प्रसन्नता मालूम होती हो तब तक समझना चाहिये कि आस्तिकता नहीं उन्पन्न हुई।

आस्तिकता की आवश्यकता क्यों हैं? जो अभिलाषा किसी प्रकार मिटाई नहीं जा सकती उसका पूरा होना अनिवार्य है। स्थायी प्रसन्नता सभी प्राणी चाहते हैं और वह केवल कर्म से किसी प्रकार पूरी नहीं हो सकती। इसलिये आस्तिकता की ओर जाने के लिए स्थायी प्रसन्नता का अभिलाषी मजबूर हो जाता है।

आस्तिक नास्तिक कौन है? (१) जो हर काल में है उसको जो जानता है वह आस्तिक है।

(२) जो हर काल में नहीं है उसको जो मानता है वह नास्तिक है।

कर्म से स्थायी प्रसन्नता क्यों नहीं मिलती? कर्मरूप बीज से शरीररूप वृक्ष उत्पन्न होता है और संसाररूप फल लगता है, जिसका स्वाद सुख और दुःख है। इसलिये कर्म से प्रसन्नता नहीं मिल सकती। कर्म शरीर तथा

संसार इन तीनों का स्वरूप एक है, इनमें कोई भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। जो स्वतन्त्र नहीं है उससे स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती; और स्वतन्त्रता के बिना प्रसन्नता कहाँ ? अतः इन कार्मादि से प्रसन्नता नहीं मिल सकती ।

कर्म किस प्रकार करना चाहिये ? कर्म को विश्व-प्रेम के भाव से करना चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से भोगों का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। भोगों का यथार्थ ज्ञान होने पर त्याग अपने आप उत्पन्न होता है और फिर कर्म में रुचि नहीं होती।

प्रत्येक करना न करने के लिये होता है, इसीलिये करना तभी सार्थक है कि करना न रहे। अतः विषयासक्तों को अपने सभी कर्म असीम विश्व-प्रेम के भाव से करने चाहिये। विषयासक्त कर्म से ही उन्नति कर सकता है और किसी प्रकार नहीं।

फल कर्म का अन्त होने पर आस्तिकता अपने आप आ जाती है। आस्तिकता आने पर रागद्वेष त्याग-प्रेम में बदल जाते हैं ।

चाह क्यों उत्पन्न होती है ? सभी प्रकार की चाह उस समय उत्पन्न होती है जब हम अपने में शरीर-भाव धारण करते हैं, क्योंकि शरीर-भाव धारण करने से सीमित अहंभाव उत्पन्न हो जाता है। सीमित अहंभाव होने से हम किसी न किसी प्रकार की बंधनयुक्त भावना अपने में अनुभव करते हैं और उसी बंधनयुक्त भावना के अनुसार करने का भाव उत्पन्न होता है।

[प्रत्येक क्रिया का जन्म चाह से होता है ।]

संसार क्यों प्रतीत होता है ? अपने में शरीर-भाव धारण करने पर आनन्दघन भगवान् संसार के स्वरूप में प्रतीत होते हैं ।

[जिस प्रकार शरीर-भाव धारण करने पर संसार का अनुभव होता हैं उसी प्रकार आत्म-भाव धारण करने पर परमात्मा का अनुभव होता है ।]

[शरीर भाव मिटाने के लिए आत्म-भाव धारण करना परम आवश्यक है, क्योंकि किसी का होना ही किसी का न होना हो जाता है ।]

उन्नति का साधन क्या है ? वर्तमान जीवन से असन्तोष होने पर ही उन्नति का जन्म हो सकता है ।

जीवन की सार्थकता क्या है ? जीवन के दो ही स्वरूप सार्थक हैं । या तो हृदय में दुःख रूप अग्नि जलती रहे अथवा आनन्द की गंगा लहराती रहे, क्योंकि दुःखरूप अग्नि सभी प्रकार के विकारों को जला देती है । जिस प्रकार लकड़ी न रहने पर अग्नि अपने आप ही शान्त हो जाती है, उसी प्रकार विकार न रहने पर दुख अपने आप शान्त हो जाते हैं ।

—※—

सन्त-वाणी

(१) जो किसी को नहीं चाहता उसको सभी चाहते हैं ।

(२) जो कुछ नहीं करता वह सब कुछ करता है ।

(३) करने से भोग और कुछ न करने से योग अपने आप हो जाता है ।

(४) अहंकार चाह के आधार पर जीवित है।

(५) सभी प्रकार की चाह मिट जाने पर अहंकार मिट जाता है।

(६) अहंकार मिटते ही सत्य का अनुभव हो जाता है।

—※—

७ जनवरी १६६०

सत्य को कौन पा सकता है ? जिसका कोई आधार नहीं है और जो किसी का आधार नहीं वह सत्य से अभिन्न हो जाता है अर्थात् वह अपने प्रीतम को अपने से भिन्न नहीं पाता।

सबसे बड़ी भूल क्या है ? कमी होते हुए कमी का अनुभव न करना परम भूल है, क्योंकि इस भूल से ही सभी भूलें उत्पन्न होती हैं।

मनुष्यता क्या है ? कमी का अनुभव करना और उसे मिटाने का प्रयत्न करना ही मनुष्यता है। मनुष्य किसी शरीर का नाम नहीं है।

[दुःख से कमी का अनुभव होता है और कमी का अनुभव होने पर दुःख होता है, इन दोनो का स्वरूप एक है।]

संसार पर शासन किस प्रकार किया जा सकता है ? यदि संसार पर शासन करना चाहते हो तो संसार को अपनी पूर्ति का साधन मत बनाओ, बल्कि यथाशक्ति संसार की पूर्ति के साधन बन जाओ।

—※—

८ जनवरी १९४०

ब्रह्मचर्य आश्रम क्या है ? जीवन की वह अवस्था है जिसमें कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य को विचारपूर्वक यथार्थ जाना जाता है अर्थात् मस्तिष्क की उन्नति अथवा बुद्धि-जन्य ज्ञान की प्राप्ति की जाती है ।

[बुद्धि-जन्य ज्ञान के लिए शारीरिक उन्नति भी आवश्यक है ।]

गृहस्थ आश्रम क्या है ? जीवन की वह अवस्था है जिसमें विषयों का राग विचार-पूर्वक त्याग न कर सकने पर उस राग का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिये नियम पूर्वक* अर्थ और काम को न्याय-पूर्वक संचय किया जाय और शेष आश्रमों की अर्थादि से सेवा की जाय ।

वानप्रस्थ आश्रम क्या है ? जीवन की वह अवस्था है जिसमें विषयों में अरुचि अर्थात् दुःख मालूम होने पर मन और इन्द्रिय आदि का तपश्चर्य्यापूर्वक सयम और पारिवारिक जीवन का त्याग करके विश्व के साथ एकता स्थापित की जाय ।

[आस्तिकता तो सभी आश्रमो में है ।]

संन्यास आश्रम क्या है ? अवस्था भेद मिटाकर सब प्रकार से अभय हो जाना अथात् अपने में स्थायीभाव से सत्य का अनुभव कर लेना ही संन्यास आश्रम है ।

[जीवन की पूर्णता सिद्ध करने के लिए संन्यास परम आवश्यक है।]

---

* जो काम जिसके लिए करना चाहिये उसी के लिये करना ।

आश्रमों का बाह्य स्वरूप भले ही मिट जाय, परन्तु आन्तरिक स्वरूप उन्नति के लिये परम आवश्यक है, अर्थात् अन्त:करण की रुचि की पूर्ति के लिये चारों ही आश्रम अधिकारी के लिये आवश्यक हैं ।

जिसको कर्त्तव्य का ज्ञान नहीं हुआ वह बुड्‌डा ही क्यों न हो उसको ब्रह्मचारी होना ही पड़ेगा । जिसको भोग-वासना है उसे गृहस्थ होना हीं पड़ेगा, चाहे कोई क्यों न हो । जिसको तप करना है उसे वानप्रस्थ होना ही पड़ेगा, चाहे राजा ही क्यों न हो । जो अभय होना चाहता है उसे त्याग करना ही पड़ेगा चाहे कोई क्यों न हो ।

राग क्या है ? दोष मालूम होते हुए भी त्याग न करना राग है ।

द्वेष क्या है ? गुण मालूम होते हुए भी ग्रहण न करना द्वेष है ।

[राग त्याग नहीं होने देता और द्वेष प्रेम नहीं होने देता क्योंकि त्याग और प्रेम से राग-द्वेष मिट जाते हैं ।]

अच्छाई बुराई कैसे होती है ? ऐसी कोई बुराई नहीं जिसका जन्म राग और द्वेष से न हो, अर्थात् सभी बुराइयाँ राग और द्वेष से होती हैं ।

ऐसी कोई अच्छाई नहीं जिसका जन्म त्याग और प्रेम से न हो, अर्थात् सभी अच्छाई त्याग और प्रेम से होती हैं ।

—※—

सत्य की आवाज

(१) जिस प्रकार बिना नींव के मकान नहीं बन सकता उसी प्रकार बिना सत्य के अनुभव के कोई सेवा नहीं कर सकता, क्योंकि सेवा वही कर सकता है जिसको अपने लिये कुछ न करना हो ।

(२) यदि स्थायी प्रसन्नता चाहते हो तो सत्य का अनुभव करो ।

(३) यदि सत्य का अनुभव करना चाहते हो तो असत्य का त्याग करो ।

(४) त्याग करने योग्य वही वस्तुयें हैं जो त्याग करने वाले का हर समय त्याग कर रही हैं । यदि उनका त्याग अपनी ओर से कर दिया जाय तो फिर उनकी याद नहीं आयेगी । यदि उन्होंने अपनी ओर से त्याग कर दिया तो उनकी याद आयेगी, जो फिर सत्य की याद नहीं करने देगी । इसलिए त्याग कर देने वाली वस्तुओं का त्याग कर देना ही परमावश्यक है । शरीरादि प्रत्येक वस्तुयें जलप्रवाह के समान लगातार अलग हो रही हैं, इसलिए उन सबसे अपने को ऊपर उठा लेना ही वास्तव में असत्य का त्याग है ।

[असत्य का त्याग ही सत्य का प्रेम हो जाता है ।]

(५) जिस काल में त्याग करने वाली सभी वस्तुओं का त्याग हो जाता है, बस उसी काल में सत्य का अनुभव अपने आप हो जाता है ।

(६) सत्य के साथ वही नाता रक्खो जो अपने साथ रखते हो। संसार के साथ वही नाता रक्खो जो शरीर के साथ रखते हो।

(७) शरीर का यथार्थ ज्ञान होने पर संसार का यथार्थ ज्ञान हो जाता है और अपना यथार्थ ज्ञान होने पर सत्य का ज्ञान हो जाता है।

× × × ×

न्याय क्या है ? ऐसा कोई दुःख नहीं जिसका जन्म शरीर के संग से न हुआ हो, परन्तु फिर भी शरीर के प्रति हित के भाव रहते हैं, अर्थात् उसकी यथाशक्ति रक्षा करते रहते हैं, इसलिये दुःख देने वालों के साथ भी हित का भाव रखना ही सच्चा न्याय है।

प्रेम क्या है ? कोई भी अपना त्याग नहीं करता, अतः सत्य का किसी प्रकार त्याग न हो, यही वास्तव में प्रेम है।

[असत्य संसार के साथ न्याय, और सत्य से प्रेम करना चाहिये।]

[न्याय राजा है और प्रेम साधु है। राजा संसार पर शासन करता है और साधु राजा पर।]

भगवद्भक्त कौन हो सकता है ? जो पतित अर्थात् दोषयुक्त प्राणियों को आदर के भाव से नहीं देख सकता वह भगवद्भक्त नहीं हो सकता, क्योंकि जो प्राणी उस मालिक की दी हुई धूप वायु आदि का अधिकारी है क्या वह आपके तुच्छ प्रेम का अधिकारी नहीं है ? अर्थात् अवश्य है।

—※—

९ जनवरी १९४०

भक्त कौन है ? जो किसी का भी भक्त नहीं है वही भक्त है; क्योंकि जो किसी का नहीं होता वह सब का होता है और जो सबका होता है वह किसी का नहीं होता। अतः भक्त की दृष्टि में सृष्टि नहीं रहती।

ध्यान कौन कर सकता है ? आत्म-ध्यान वही कर सकता है जो जीवन में ही जीवन का अन्त कर देता है, क्योंकि सीमित अहंभाव के आधार पर ही संसार जीवित है, जो ध्यान नहीं होने देता। अतः सीमित अहंभाव को मिटा देना जीवन में ही जीवन का अन्त कर देना है।

कर्म की उत्पत्ति क्यों होती है ? जब हम अपने को सीमित अहंभाव अर्थात् किसी न किसी प्रकार की भावनाओं में बाँध लेते हैं उसी भावना के अनुसार क्या करना चाहिये, यह भाव उत्पन्न होता है। ऐसी कोई भी क्रिया नहीं होती जिसका सम्बन्ध हमारे माने हुए अहंभाव के अनुसार न हो, अर्थात् सब प्रकार के कर्मों का जन्म मानी हुई भावनाओं के अनुसार ही होता है।

स्थायी प्रसन्नता कौन पाता है ? स्थायी प्रसन्नता वही पाता है जो संसार की ओर से आने वाली सभी प्रसन्नताओं का अन्त कर देता है।

—※—

सत्य की आवाज

(१) विचारशल पुरुष की दृष्टि में थोड़ा सा दुःख भी बहुत बड़ा दुःख होता है, परन्तु उसे प्रसन्नता तब तक नहीं होती जब तक वह प्रसन्नता न मिले कि जिससे बड़ी और कोई प्रसन्नता नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार एक बीज में अनन्त वृक्ष होते हैं उसी प्रकार दुःख रूप बीज से अनन्त दुःख होता है, इसलिये उसे वह पसन्द नहीं करता, बल्कि दुःख का अन्त करने के लिये अखण्ड प्रयत्न करता है ।

(२) दुःख, दुःखी की भूल से होता है, इसलिये अपने दुःख का कारण दूसरे को समझना परम भूल है ।

(३) दुःख कोई देता नहीं बल्कि दुःखी से स्वयं दूसरों को दुःख होता है, जिस प्रकार अग्नि स्वयं जलकर दूसरों को जलाती है ।

(४) दुःख दुनियाँ की सहायता से किसी प्रकार नहीं मिट सकता, क्योंकि संसार की कोई भी ऐसी अवस्था नहीं है जो दुःख को मिटा सके। इसलिये दुखी के लिये संसार में कोई स्थान नहीं है [संसार की कोई भी ऐसी अवस्था नहीं है जिसको पाकर किसी प्रकार की भी कमी शेष न रहे] ।

(५) दुखी का दुःख उसी समय तक जीवित है जब तक कि अभागा दुखी दुःख को ससार की सहायता से मिटाना चाहता है, संसार से निराश होते ही दुःखहारी हरि दुःख को स्वयं हर लेते हैं । ऐसा जीवन में अनेक बार अनुभव हुआ है ।

सर्व इच्छाओं की पूर्ति किस प्रकार हो सकती है ? इच्छाओं के आधार पर अहंभाव और अहंभाव के आधार पर इच्छा जीवित रहती है और इसी नियम के अनुसार अनन्त काल से इच्छाओं के अनुसार अहंभाव बनता रहता है। यदि कोई ऐसी प्रबल इच्छा बन जाय कि जो और सब इच्छाओं को मिटा दे तो फिर अत्यन्त व्याकुलता बढ़ जाने पर वह इच्छा भी मिट जाती है । सब इच्छाओं के मिटते ही अहंभाव मिट जाता है। वह इच्छा जिस भाव को लेकर मिटी थी उसकी पूर्ति उसी काल में हो जाती है जिसमें कि अहंभाव मिटा था, क्योंकि जो अहंभाव को प्रकाशित करता है वह सब प्रकार से पूर्ण है । अतः सब प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति हो सकती है ।

---

१० जनवरी १९४०

कर्म कब तक होता है ? जब तक किसी प्रकार का भी व्यक्तित्व कर्ता को अपने सुख का साधन मालूम होता है तब तक वह कर्म अवश्य करता है ।

[मन इन्द्रिय आदि से जो कुछ जाना जाता है वह व्यक्तित्व है]

कर्म का त्याग कब होता है ? व्यक्तित्व की गुलामी में अर्थात् बुद्धि आदि से जो कुछ मालूम होता है, उन विषयों में जब रस नहीं आता है तब कर्त्ता कर्म का त्याग कर देता है ।

व्यक्तित्व किस प्रकार बनता है ? जो चीज बनती है वह सत् नहीं होती (अर्थात् हर काल में नहीं रहती) । तथा असत् में ही किसी न किसी प्रकार की इच्छा

उत्पन्न होती है। जिसकी इच्छा उत्पन्न होती है असत् उसी इच्छित स्वरूप को सत् की कृपा से धारण कर लेता है अर्थात् अपने इच्छित व्यक्तित्व को अपने से भिन्न नहीं पाता। जैसे एम्. ए. की इच्छा करने वाला विद्यार्थी एम्. ए. को अपने से भिन्न नहीं पाता अर्थात् यही अनुभव करता है कि मैं एम्. ए. हो गया, अतः प्रत्येक व्यक्तित्व अपनी इच्छा के अनुसार अनेक व्यक्तित्व में बदलता रहता है।

व्यक्तित्व किस प्रकार मिट सकता है ? इच्छा सदा अपूर्ण में होती है, परन्तु यदि उस अपूर्ण में पूर्ण की इच्छा हो जाय तो वह फिर सदा के लिए मिटकर पूर्ण हो जाता है और फिर किसी प्रकार की इच्छा उत्पन्न नहीं होती ओर न फिर व्यक्तित्व हो रहता है। अतः अपूर्ण को पूर्ण होने की इच्छा करना परमावश्यक है। जब तक पूर्ण होने की इच्छा नहीं होती तब तक ही अनेक इच्छाएं जीवित रहती हैं। पूर्ण होने की इच्छा होने पर ओर सब इच्छाएँ अपने आप मिट जाती हैं, जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश में और सब प्रकाश मिट जाते हैं।

कर्म से अपूर्णता नहीं मिट सकती। कर्म से संसार प्राप्त होता है। बेचारा ससार स्वरूप से अपूर्ण है, इसलिये संसार की सहायता से अपूर्णता नहीं मिट सकती। अतः कर्म से अपूर्णता नहीं मिट सकती।

अपूर्णता किस प्रकार मिट सकती है ? अपूर्णता—अविचार तथा अज्ञान की कमी से उत्पन्न हुई है, अतः विचार तथा यथार्थ ज्ञान से ही मिट सकती है और किसी प्रकार नहीं।

विचार क्या है ? यह=ससार, वह=परमात्मा, मैं=शरीरादि का अभिमानी, इन तीनों का यथार्थ ज्ञान हो जाना ही विचार है। यद्यपि ये तीनों सूरज=वह, धूप=यह, किरण=मैं, के समान हैं, परन्तु किसी एक का यथार्थ ज्ञान होने पर तीनों का ज्ञान हो जाता है ।

अखन्ड समाधि किस प्रकार हो सकती है ? विचारपूर्वक यथार्थ ज्ञान से 'यह' 'वह' 'मैं' इन तीनों के एक हो जाने पर अखण्ड समाधि अपने आप हो जाती है ।



सत्य की आवाज

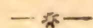
१—यदि किसी प्रकार की अभिलाषा बाकी है तो समझना चाहिये कि अभी अनन्त अभिलाषाएँ बाकी हैं, क्योंकि त्याग कुल का होता है, जुज़ का नहीं ।

२—इच्छा की उत्पत्ति में दुःख और पूर्ति में सुख तथा इच्छाओं की निवृत्ति में आनन्द का अनुभव होता है ।

३—अविचार से इच्छाओं की उत्पत्ति होती है, कर्म से इच्छाओं की पूर्ति होती है और ज्ञान से इच्छाओं की निवृत्ति होती है ।

× × × ×

सुख और आनन्द में क्या भेद है ? सुख से दुःख दब जाता है और आनन्द से मिट जाता है। दबा हुआ दुःख फिर उत्पन्न होता है किन्तु मिट जाने पर फिर उत्पन्न नहीं होता ।



११ जनवरी १९४०

विचार उत्पन्न करने का क्या साधन है ? बिना जरूरी कामों का त्याग करने पर और जरूरी कामों को पूरा करने पर विचार उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि जो सुख काम के आधार से उत्पन्न होता है वह स्थिर नहीं रहता, अन्त में दुःख ही शेष रहता है । और दुःख से विचार का जन्म हो जाता है ।

जरूरी काम क्या है ? जिस कार्य के पूरा करने के साधन प्राप्त हों और जिसके बिना कर्त्ता किसी प्रकार न रह सके, वही आवश्यक कार्य है ।

सत्य की आवाज

(१) यदि राग व द्वेष न किया होता तो त्याग व प्रेम न करना पड़ता ।

(२) यदि विषयों का चिन्तन—ध्यान न किया होता तो भगवच्चिंतन—ध्यान न करना पड़ता ।

(३) यदि भोग न किया होता तो योग न करना पड़ता ।

(४) यदि संसार से स्वार्थ-सिद्धि न की होती तो संसार की सेवा न करनी पड़ती ।

(५) यदि अविचार न किया होता तो विचार न करना पड़ता ।

(६) यदि अपने में शरीर-भाव न धारण किया होता तो आत्म-भाव धारण न करना पड़ता ।

(७) यदि किसी का अनहित न किया होता तो तप न करना पड़ता ।

× × × ×

जिस प्रकार आँख सब कुछ देख सकती है, लेकिन आंख को कोई नहीं देख सकता, उसी प्रकार जो सबको जानता है वही स्वयं-प्रकाश, अखण्ड, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है । उसको बुद्धि आदि कोई नहीं जान सकता ।

× × × ×

जड़ क्या है ? जड़ वह है जो अपने आप को प्रकाशित न कर सके, अर्थात् जो किसी और की सत्ता से प्रकाशित हो ।

चेतन क्या है ? चेतन वह है जो अपने को स्वयं प्रकाशित करे और जिससे जड़ प्रकाशित हो ।

असत् क्या है ? असत् वह है जो बदलता रहे अर्थात् जो हर काल में एकसा न हो ।

सत् क्या है ? सत् वह है जो सर्वकाल में एक सा रहे और असत् को प्रकाशित करे ।

आनन्द क्या है ? आनन्द वह है जिसका किसी प्रकार त्याग न किया जाय, अर्थात् जो अत्यन्त प्रिय हो ।

दुःख क्या है ? जो किसी प्रकार प्रिय न हो, अर्थात् जिसका त्याग कर दिया जाय ।

शरीर जड़, असत् तथा दुःख रूप है ? शरीरादि जो कुछ जानने में आता है वह अपने को अपने आप प्रकाशित नहीं कर सकता, इसलिये जड़ हैं ।

शरीरादि सभी वस्तुएं लगातार बदलती रहती हैं, अतएव असत् हैं और वही दुःखरूप हैं ।

क्रिया किस में होती है ? जो अपूर्ण हो, अर्थात् पूर्ण में क्रिया नहीं होती ।

अपूर्ण कौन है ? अपूर्ण वही है जो असत्, जड़ तथा दुःख रूप है ।

भक्ति क्या है ? अपने में सद्भाव-पूर्वक अखंड सच्चिदानन्दघन की स्थापना कर अपना सब कुछ उनके सामने छोड़कर उनकी रजा में राजी रहने का अभ्यास करना ही अनन्य भक्ति है ।

सत् की अभिलाषा उत्पन्न करने का साधन क्या है ? प्रत्येक सत् के अभिलाषी को अपनी सभी अभिलाषाओं को विचारपूर्वक भली प्रकार देखना चाहिये कि वास्तविक अभिलाषा क्या है ? यदि उसने अपनी अभिलाषाओं का यथार्थ अनुभव कर लिया तो फिर सत् की अभिलाषा उत्पन्न हो जायगी । वास्तविक अभिलाषा वही है जो किसी प्रकार न मिटाई जा सके । जो अभिलाषाएं किसी भी प्रकार मिटायी जा सकती हैं उनके मिटाने से ही सत् की अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है, अथवा सत् की अभिलाषा होने पर और सब अभिलाषाएं मिट जाती हैं ।

सत् का मार्ग क्या हैं ? सत् की अभिलाषा ही एक मात्र सत् का मार्ग है । जिस प्रकार बड़ी मछली सभी छोटी मछलियों को खाकर अन्त में अपने आप मर जाती है, उसी प्रकार सत् की अभिलाषा सभी अभि-

लापाओं को मिटा कर अन्त में अपने आप मिट जाती है, बस उसी काल में सत् का अनुभव हो जाता है ।

[जिस प्रकार कमरों का अभाव होने पर मकान का अपने आप अन्त हो जाता है उसी प्रकार सभी कर्मों का अन्त होने पर कर्त्ता का अपने आप अन्त हो जाता है और फिर स्वयंप्रकाश, सच्चिदानन्दघन, शुद्ध, निर्विकार शेष रह जाता है ।]

—※—

१२ जनवरी १९४०

पूजा क्या है ? प्राणिमात्र को किसी न किसी प्रकार की चाह अवश्य होती है । चाह के अनुसार चिंतन अपने आप हो जाता है और चिंतन से ध्यान हो जाता है, अर्थात् अपने प्रिय इष्ट का स्मरण, चिंतन, ध्यान करना ही पूजा है, जो सभी करते हैं । साधारण मनुष्य पूजा को आस्तिकवाद ही में लेते हैं । अन्तर सिर्फ यह है कि आस्तिक एक की पूजा करता है और नास्तिक अनेक की पूजा करता है । पूजा बिना किये प्राणी रह नहीं सकता । पूजा करना सबको आता है, सिर्फ यही बात विचार करने की है कि पूजा किसकी की जाय ।

पूजा की सार्थकता क्या है ? पुजारी (सीमित अहंभाव), पूज्य (जिसमें अत्यन्त प्रियता हो, अर्थात् जिसका किसी प्रकार त्याग न किया जा सके) और पूजन की सामग्री (मन इन्द्रिय आदि संसार की सभी वस्तुएं) इन तीनों का एक हो जाना ही पूजा की सार्थकता है । पूजा पूरी होने पर कुछ भी करना शेष नहीं रहता, क्योंकि पुजारी अर्थात् कर्तास्वयं मिट जाता है, अतः कर्ता के बिना क्रिया हो नहीं

सकती। यह पूजा वही कर सकता है कि जो सच्चा आस्तिक हो।

नास्तिक की पूजा क्या है ? जिसकी अस्ति नही है उससे जिसकी अत्यन्त प्रियता हैं वही नास्तिक है । नास्तिक अपने विषय-जन्य स्वभाव के अनुसार संसार के भोगों की अभिलाषा करता है। जब वह अपनी शक्ति से उन भोगों को नही पाता तब व्याकुल हो उनका चिन्तन करता है। प्रबल व्याकुलता के कारण जब वह चिन्तन अचिन्तता में बदल जाता है तो साधक उसी काल में अनन्त सत्य से अपनी रुचि के अनुसार भोगों के यथाशक्ति प्राप्त करने का ज्ञान प्राप्त कर लेता है । उसी ज्ञान के अनुसार कर्म करने पर वह इच्छित भोग प्राप्त करता हैं । इसी प्रकार अनेक बार पूजा करता रहता है ।

दुःख का कारण क्या है ? संसार की अनुकूलता तथा प्रतिकूलता पर विश्वास करना ही दुःख का मूल हैं, क्योंकि यदि अनुकूलता का सुख न प्रतीत हो तो प्रतिकूलता का दुःख नही हो सकता ।

सुखरूप बीज से ही दुःखरूप वृक्ष हरा-भरा होता है, जो अविचार-रूप भूमि में अपने आप उपजता है । दुःख दुखी की भूल से होता है । अतः दुखी को अपने दुःख का कारण किसी और को नहीं समझना चाहिये । बेचारा जड़ संसार दुःख दे नहीं सकता और आनन्दघन भगवान् के यहां दुःख है नही, इसलिये दुःख दुखी की भूल से होता है ।

दुःख किस प्रकार मिट सकता है ? दुखी का दुःख उसी समय तक जीवित है जब तक कि वह उसे संसार की सहायता से मिटाना चाहता है, क्योंकि संसार

की कोई भी अवस्था ऐसी नहीं है कि जो निर्दोष तथा सब प्रकार से पूर्ण हो। अतः दुःख संसार की सहायता से नहीं मिट सकता। जिस काल में दुखी संसार की सभी सहायताओं का त्याग कर देता है बस उसी काल में दुःखहारी हरि उसका दुःख हर लेते हैं। ऐसा भली प्रकार अनुभव हो चुका है।

[संसार की अनुकूलता और प्रतिकूलता पर विश्वास करने से कर्त्ता आशा और भय के जाल में फंस जाता है।]

संसार की अनुकूलता तथा प्रतिकूलता क्यों होती है? संसार सबल के अनुकूल तथा निर्बल के प्रतिकूल अपने आप हो जाता है। यद्यपि संसार की अनुकूलता से किसी प्रकार आनन्द नहीं मिलता, परन्तु फिर भी प्राणी को अनुकूलता प्रिय होती है।

निर्बलता क्या है? सबसे प्रबल निर्बलता यही है कि बल को संसार की सहायता पर निर्भर किया हुआ है। अर्थात् शरीरादि संसार की सभी वस्तुओं पर भरोसा करना ही निर्बलता है। यदि संसार की सहायता का त्याग कर दिया जाय तो साधक अत्यन्त सबल हो जाता है और फिर संसार उसके अनुकूल होने के लिये मजबूर हो जाता है। अतः संसार की सहायता को त्यागकर सबल हो जाओ।

सन्त-वाणी

शुभ कर्म सद्भाव पूर्वक की हुई भावनाओं के अनुसार यथाशक्ति क्रिया करने पर कर्त्ता का कालान्तर में वही स्वरूप बन जाता है । इसलिये हृदय में सदैव पवित्र भावनाएँ करनी चाहिये । यही बास्तव में शुभ कर्म है ।

ज्ञान का स्वरूप क्या है ? सब कुछ ज्ञान से ही उत्पन्न होकर ज्ञान में ही स्थित तथा ज्ञान में ही बिलीन हो जाता है । सब कुछ विलीन होते हुए भी ज्ञान स्वरूप से अखंड रहता है । ज्ञान का स्वरूप यदि क्रियारूप में देखा जाय तो उसका नाम त्याग है । [क्योंकि ज्ञान के लिये त्याग ही करना होता है ।]

ज्ञान का स्वरूप यदि भावरूप में देखा जाय तो उसका नाम प्रेम है । [क्योंकि बिना ज्ञान के प्रेम नहीं होता ।]

ज्ञान का योग क्या है ? त्याग को प्रेम में और प्रेम को ज्ञान में बिलीन अर्थात् अभिन्न कर देना ही ज्ञान-योग है ।

ज्ञान योग का फल क्या है । ज्ञान-योग के सिवा और किसी प्रकार अवस्था-रहित अखंड एकरस स्थायी प्रसन्नता नहीं मिल सकती है ।

ज्ञान-योग कौन कर सकता है ? अभिलाषा होने पर मनुष्य-मात्र स्वतंत्रता-पूर्वक ज्ञान-योग कर सकता है, क्योकि ज्ञान-योग के लिये किसी प्रकार के संगठन की आवश्यकता नहीं हैं, बल्कि अपने बनाये हुए सभी संगठन मिटाने पड़ते हैं । अपनी बनाई हुई वस्तु को मिटाने के लिये

सभी स्वतन्त्र हैं। सभी संगठन मिट जाने पर बेचारा संसार निर्जीव तथा नीरस हो जाता है। संसार के सभी रस मिट जाने पर परम पवित्र विचित्र रस का अनुभव होता है, जो कहने में नहीं आता। उस अनोखे रस का अनुभव होते ही किसी प्रकार की कमी शेष नहीं रहती, अर्थात् सभी अभिलाषाओं का अन्त हो जाता है। यही ज्ञान-योग का वास्तविक फल है, जिसे मनुष्य-मात्र प्राप्त कर सकता है।

उपासना की आवश्यकता क्यों होती है ? शुभ कर्मों से स्वार्थ के भावों का अभाव हो जाता है, अर्थात् हृदय विशाल हो जाता है। विश्व का दुःख उसका दुःख और विश्व का सुख उसका सुख हो जाता है। अर्थात् कर्मों द्वारा व्यक्ति शान्ति नहीं पाता, इसलिये उपासना की आवश्यकता होती है।

उपासना के क्या लाभ हैं ? अपने को सब प्रकार से पूर्ण देखने की रुचि मनुष्यमात्र को होती है, परन्तु विषय-जन्य स्वभाव की आसक्ति के कारण उसका अनुभव नहीं हो पाता। इसलिये उस विषय-जन्य स्वभाव को मिटाने और अपनी वास्तविक रुचि को स्थायी करने के लिये उपासना करनी चाहिये। उपासना से ही ऐसा हो सकता है।

उपासना के कितने मार्ग हैं ? १. विचारपूर्वक उस पूर्ण स्वभाव को अपने में स्थापित करना, अर्थात् स्थायी भाव से अपने में अनुभव करना, यह ज्ञान का मार्ग है।

२. प्रकृति के अभाव में उस पूर्ण स्वभाव को स्थापित कर भावपूर्वक अनुभव करना, यह निराकार उपासना है।

३. अपनी रुचि के अनुसार किसी भी प्रतीक में उसी पूर्ण भाव को स्थापित कर भावपूर्वक अनुभव करना साकार उपासना है ?

[साकार तथा निराकार दोनों प्रकार की उपासना श्रद्धा का मार्ग है ।]

× × × ×

(१) जब तक विषय-जन्य स्वभाव का अत्यन्त अभाव नहीं हो जाता, तब तक उपासना करना अनिवार्य है । अर्थात् उसके बिना किये किसी प्रकार रह नहीं सकता ।

(२) दोष के मिट जाने पर गुण अपने आप मिट जाते हैं । अर्थात् सभी गुण दोष के आधार पर जीवित रहते हैं ।

[विषय-जन्य स्वभाव गलने पर उपासना अपने आप मिट जाती है और केवल शुद्ध सत्य का अनुभव हो जाता है और फिर कुछ करना शेष नहीं रहता ।]

× × × ×

सत्य की आवाज

सत् के प्रेम को व्यक्ति का प्रेम
,, ज्ञान ,, ज्ञान
,, आनन्द ,, आनन्द
,, सौन्दर्य ,, सौन्दर्य
,, न्याय ,, न्याय
सत् की आवाज को व्यक्ति की आवाज़
समझना परम भूल है ।

१३ जनवरी १६४०

सब प्रकार से समर्थ कौन है ? यथार्थ ज्ञान; क्योंकि पतित को पवित्र तथा अपूर्ण को पूर्ण, अनाथ को नाथ, जड़ को चेतन, दुःख को आनन्द, असत् को सत् करने वाला एक मात्र यथार्थ ज्ञान ही है, क्योंकि सभी विकार ज्ञान की कमी से ही जीवित रहते हैं।

[ज्ञान, बल, अर्थ और क्रिया इन चारों से जीवन की पूर्णता सिद्ध होती है।]

[ज्ञान—बल, अर्थ और क्रिया तीनों पर शासन करता है।]

[बल—अर्थ और क्रिया इन दोनों पर शासन करता है।]

[अर्थ—केवल क्रिया पर शासन करता है।]

(१) विशेष ज्ञान होने के कारण ब्राह्मण जगद्गुरु कहलाता है।

(२) विशेष बल की विशेषता के कारण क्षत्रिय संसार का राजा कहलाता है।

(३) विशेष अर्थ की विशेषता के कारण वैश्य संसार का निधि कहलाता है।

(४) विशेष क्रिया की विशेषता के कारण शूद्र संसार का दास कहलाता है।

[ज्ञान का भी अभिमान त्याग करने पर सच्चा सन्यासी ब्राह्मण का भी गुरु कहलाता है।]

[ब्राह्मण ज्ञान का आदर करता है, क्षत्रिय बल का, वैश्य अर्थ का और शूद्र क्रिया का।]

प्रार्थना क्या है ? *अभिलाषा का प्रबल हो जाना ही सच्ची प्रार्थना है।

उपासना क्या है ? प्रबल अभिलाषा को, अर्थात् की हुई प्रार्थना को समर्पण कर देना ही उपासना है।

स्तुति क्या है ? उपासना पूर्ण होने पर जो अनुभव में आये उसका बुद्धि आदि से गान करना ही स्तुति है।

---

१४ जनवरी १९४०

भोग की इच्छा क्यों होती है ? विषयों के राग के कारण स्थायी प्रसन्नता के अभिलाषी को भोग की प्रवृत्ति होती है, यद्यपि सफलता नहीं होती।

योग की इच्छा क्यों होती है ? विषयों का राग मिटने पर स्थायी प्रसन्नता के अभिलाषी को योग की इच्छा होती है, यद्यपि बिना ज्ञान के सफलता नहीं पाता।

भोग से शक्तियों का विनाश और योग से शक्तियों का विकास होता है।

[योग करने के लिये स्वतंत्रता है और भोग करने के लिये परतंत्रता है, क्योंकि भोग के लिये संसार की सहायता तथा कर्म की आवश्यकता होती है और योग के लिये संसार के त्याग की आवश्यकता होती है। त्याग

---

*प्रबल अभिलाषा एक हो सकती है, अनेक नहीं। एक ही अभिलाषा की पूर्ति के लिये अनेक इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं। एक-एक इच्छा की पूर्ति के लिये अनेक संकल्प उठते हैं। प्रत्येक संकल्प की पूर्ति के लिये अनेक क्रियाएँ होती हैं। अतः एक ही अभिलाषा का सारा विकास होता है।

कर्ता स्वयं कर सकता है। अतः योग स्वतंत्र है और भोग परतंत्र।]

बन्धन क्या है ? मानी हुई सत्ता का सद्भावपूर्वक शासन स्वीकार करना ही बन्धन है।

स्वतन्त्रता क्या है? मानी हुई सत्ता का सद्भाव मिटाकर उसके शासन को स्वीकार न करना तथा अपने पर अपना ही शासन होना वास्तविक स्वतन्त्रता है।

संत-उपदेश

१. यदि दुःख पर शासन करना चाहते हो तो सुख को मिटा दो।

२. यदि अपमान पर शासन करना चाहते हो तो सम्मान को मिटा दो।

३. यदि रोग पर शासन करना चाहते हो तो भोग को मिटा दो।

४. यदि वियोग पर शासन करना चाहते हो तो संयोग को मिटा दो।

५. यदि शोक पर शासन करना चाहते हो तो हर्ष को मिटा दो।

६. हमारे स्वभाव के अनुसार ही संसार का हमारे ऊपर प्रभाव होता है, अर्थात् संसार शासन करता है, क्योंकि ऐसी कोई शक्ति नहीं है कि जिसको हम स्वयं स्वीकार न करें और

वह हम पर अपना अधिकार कर सके, अर्थात् हमारी मर्जी के बिना हम पर कोई भी शासन नहीं कर सकता।

परतन्त्रता अपनी बनाई हुई चीज है, इसलिये कर्ता उसे मिटा कर स्वतन्त्र हो सकता है। स्वतन्त्रता कभी दूसरे की सहायता से नहीं मिल सकती। सब प्रकार की स्वतन्त्रता कर्ता के पुरुषार्थ पर निर्भर है।

७. जिस प्रकार भूख लगने पर सब की एक दशा होती है उसी प्रकार सत्य की खोज करते समय सब की एक दशा होती है, अर्थात् उस समय अपनी वर्तमान परिस्थिति से सभी को अरुचि होती है। इसीलिये सभी सत्य की खोज करने वालों ने त्याग किया है।

८. जो विषयासक्त हैं वे अपने स्वभाव के अनुसार अलौकिक विषयों के स्वरूप में सत्य की खोज करते हैं, अर्थात् स्वर्गादि अनेक लोकों की प्राप्ति के लिये कर्म करते हैं।

९. जो विषयों मे विरक्त हैं, वे विषयातीत, सच्चिदानन्दघन, अखंड, एकरस, निर्विकार सत्य की खोज करते हैं, अर्थात् मोक्ष चाहते हैं।

१०. विषयासक्त स्वभाव—अर्थात् जो इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से जाना जाता है वह कभी नित्य नहीं रह सकता। इस को सभी सत्य की खोज करने वाले जानते हैं, किन्तु राग के कारण त्याग नहीं कर सकते।

११. विषयों का अभाव होने पर अवस्था-भेद नहीं रहता। यह सब प्रकार सत्य है। इसी अनन्त नित्य की खोज में प्राणिमात्र छटपटा रहा है।

१२. विषय-युक्त सत्ता परतंत्र और विषयातीत सत्ता स्वतंत्र है।

---

15 जनवरी १६४०

प्रेम की अवस्थाएँ १. यह (संसार) जो कुछ है वह उनका है, अर्थात् प्रेमपात्र का है—यह प्रेम की प्रथम अवस्था है।

२. यह जो कुछ है वह उनका ही स्वरूप है—यह द्वितीय अवस्था है। इस अवस्था में सृष्टि मिटकर प्रेमपात्र का स्वरूप प्रतीत होता है, अर्थात् संसार का भाव मिट जाता है।

३. प्रेम की जो तीसरी अन्तिम अवस्था है वह किसी प्रकार कही नहीं जा सकती। सिर्फ यह संकेत किया जा सकता है कि प्रेमपात्र के सिवाय और कुछ कभी हुआ ही नहीं।

[इन तीनो अवस्थाओं का एक हो जाना ही यथार्थ ज्ञान है]

भक्ति की निष्ठा भक्त की दृष्टि में सृष्टि नहीं रहती, अर्थात् प्रेमपात्र ही भासता है।

ज्ञानी की निष्ठा क्या है ? ज्ञानी की दृष्टि में सृष्टि तथा प्रेमपात्र भी नहीं रहता, अर्थात् एक ही परमतत्व भासता है।

---

१६ जनवरी १९४०

गुरु का स्वरूप क्या है ? शरीर में गुरु-बुद्धि और गुरु में शरीर बुद्धि करना परम भूल है, क्योंकि गुरु-तत्व अनन्त ज्ञान का भण्डार है । गुरु, हरिहर और सत्य में कोई भेद नहीं है। इसलिये जो गुरु को प्राप्त कर लेता है वह सब कुछ पा लेता है।

शिष्य कौन है ? ज्ञान का जिज्ञासु ही शिष्य है । शिष्य गुरु होने के लिये गुरु की शरण में जाता है । गुरु वही है जो शिष्य को गुरु बना सके, क्योंकि गुरु के मिलते ही शिष्य गुरु हो जाता है।

गुरु की आवश्यकता गुरु होने के लिये होती है, शिष्य होने के लिये नहीं, शिष्य तो उसी समय तक है जब तक कि गुरु नहीं मिला । ज्ञान की जिज्ञासा आवश्यकता होने पर अपने आप उत्पन्न होती है, अतः शिष्य तो स्वयं ही बन जाता है।

[सत् होने के लिये ही सत् की आवश्यकता है । इसलिये वही सत् है जो सत् के अभिलाषी को सत् बना दे ।]

———

सत्य की आवाज

१७ जनवरी १९४०

१. विश्वास—सुनने तथा मानने पर होता है। श्रद्धा—देखने तथा जानने पर होती है। अनेक की अश्रद्धा एक की श्रद्धा बनती है। श्रद्धा उस पर होती है जिसमें कर्ता को किसी प्रकार का दोष न दिखाई दे ।

२. संसार पर उसी समय तक श्रद्धा रहती है जब तक अपने शरीर पर श्रद्धा रहती है ।

३. जो अपने पर श्रद्धा करता है वह सन्, ब्रह्म तथा ईश्वर पर श्रद्धा करता है, जो शरीर पर श्रद्धा करता है, वह संसार [स्वार्गादि] पर श्रद्धा करता है ।

४. श्रद्धा के अनुसार ही कर्ता की प्रवृत्ति होती है ।

५. ज्ञान के अनुसार श्रद्धा होती है ।

६. ज्ञान विचार से उत्पन्न होता है । विचार दुःख से उत्पन्न होता है ।

७. दुःख वही है जिसका किसी प्रकार संयोग न किया जा सके, अर्थात् जिसमें किसी प्रकार से रुचि न हो ।

८. आनन्द वही है जिसका किसी प्रकार वियोग न किया जा सके ।

९. किसी का न जानना किसी का जानना अवश्य हो जाता है, क्योंकि जो जानने वाली सत्ता है वह किसी न किसी को जानती रहती है ।

१०. जो सत्ता सबको जानती है उसका अनुभव किया जा सकता है, वह जानी नहीं जा सकती है । अनुभव अभेद होने पर हो सकता है और किसी प्रकार नहीं ।

जिस प्रकार सभी मिठाइयों में मीठापन खाँड का है, उसी प्रकार सभी ज्ञानवाली चीजों (मन, बुद्धि, इन्द्रियों आदि) में ज्ञान उसी ज्ञानस्वरूप सत्ता का है जो सबको जानती है ।

११. योगियों का योग, प्रेमियों का प्रेम, विचारशीलों का विचार तथा उन्नति शीलों की उन्नति उसमें ही विलीन हो जाती

है, अर्थात् वही जीवन का परम लक्ष्य है क्योंकि उसका किसी प्रकार त्याग नहीं किया जा सकता। जिसका किसी प्रकार त्याग नहीं किया जा सकता उसमें ही आनन्द है।

१२. आनन्द की अभिलाषा प्राणिमात्र को होती है, अतः वही जीवन का परम लक्ष्य है।

सत् असत् का ज्ञान १३. असत् से हट जाना ही असत् का ज्ञान है और सत् से मिल जाना ही सत् का ज्ञान है, क्योंकि असत से बिना हटे असत् का कथन नहीं कर सकते और सत् से बिना मिले सत् का अनुभव नहीं कर सकते।



१८ जनवरी १९४०

सदाचार क्या है ? विलासिता की भावना से क्रिया का न होना ही सच्चा सदाचार है, क्योंकि ऐसा कोई दुराचार नहीं कि जिसका हेतु राग न हो। राग और विलासिता बीज और वृक्ष के समान हैं और सुख-दुःख इसके फल हैं। यथा अविचाररूप भूमि में रागरूपी बीज अपने-आप उत्पन्न होता है और फिर बिलासितारूप वृक्ष हरा-भरा होकर सुख-दुःख-रूपी फल लगता है, जो विषयों के चिन्तनरूपी जल से सदैव सुरक्षित रहता है।

अविचार को विचार से मिटाकर वैराग्यरूपी बीज को उत्पन्न कर त्यागरूपी वृक्ष से आनन्दरूपी फल उत्पन्न होता है।

उन्नति का साधन क्या है।	शारीरिक उन्नति के लिये सदाचार परमावश्यक है, आत्मिक उन्नति के लिये त्याग परमावश्यक है।
सेवा और कर्म में क्या भेद है ?	सेवा-स्वामी से मिलाती है, अर्थात् अपने लक्ष्य तक पहुँचाती है और कर्म-फल में बाँध लेता है।

सेवा-भाव से की हुई अनेक क्रियाओं का एक ही अर्थ होता है। यथार्थ सेवा करने पर मन में किसी प्रकार का राग नहीं रहता है। सेवा करने वाले की दृष्टि में सृष्टि नहीं रहती, बल्कि सब ओर अपना प्रेमपात्र ही नजर आता है, यही मानसिक उन्नति की पराकाष्ठा है।

सेवा का भाव गल जाना ही सच्चा त्याग है, त्याग से आत्मिक उन्नति होती है, अर्थात् फिर वह अपने से भिन्न और कुछ नहीं पाता।

सेवा	सेवा आस्तिकता के बिना किसी प्रकार नहीं हो सकती और कर्म नास्तिक-भाव होने पर भी हो सकता है।

कर्म और संसार दोनों का स्वरूप एक है, इसीलिये कर्म से संसार की प्राप्ति होती है।

आस्तिक-नास्तिक भाव	संसार से परे और कुछ नहीं है, ऐसा भाव ही नास्तिकता का भाव है। संसार से परे अनन्त सत्य है, यही आस्तिकता का भाव है।

—*—

१६ जनवरी १६८०

साधुत्व क्या है ? अपने को जिन कल्पनाओं (वर्णाश्रम आदि) में बाँध लिया हो उनके नियम के अनुसार पूर्ण शक्ति लगाकर कार्य करने पर सत्य की खोज करते रहना ही साधुत्व है, क्योंकि जो अपने को पूरा नहीं लगाते हैं उनको ही उन कामों की याद आती है कि जिनको अनेक बार कर चुके हैं, इसलिये पूरा लगाना चाहिये।

काम का अन्त होने पर सत् की अभिलाषा अपने आप उत्पन्न होती है। सत् की अभिलाषा होने पर भूतकाल याद नहीं आता, वर्तमान में कल नहीं पड़ती और भविष्य की आशा नहीं होती।

सत् किस प्रकार से मिल सकता है। सत् असत् की सहायता से नहीं मिल सकता और न किसी प्रकार की क्रियाओं से मिल सकता है, क्योंकि क्रिया असत् में होती है। अतः असत् के त्याग से सत् मिल सकता है।

असत् का स्वरूप असत् वह है जिसमें इच्छाओं की उत्पत्ति हो अथवा जो परतंत्र सत्ता हो।

इच्छाओं के आधार पर असत् और असत् के आधार पर इच्छाएं जीवित रहती हैं। यदि सर्व इच्छाओं का त्याग कर दिया जाय तो असत् मिट जाता है और यदि असत् को मिटा दिया जाय तो सब इच्छाएँ मिट जाती हैं।

———

२० जनवरी १६४०

योग का साधन क्या है ? विषयों को इन्द्रियों में विलीन करो और इन्द्रियों को मन में, मन को बुद्धि में, और बुद्धि को उसमें जो बुद्धि से परे है ।

विषयों की अभिलाषा मिटने पर बिषय इन्द्रियों में विलीन हो जाते हैं, संकल्प रहित होने पर इन्द्रियां मन में विलीन हो जाती हैं, विषयों का राग मिटने पर मन निःसंकल्प हो जाता है, मन के निःसंकल्प होने पर इन्द्रियां मन में विलीन हो जाती हैं, सत् असत् का विचार होने पर मन बुद्धि , में विलीन हो जाता है, और सभी अभिलाषाओं का अन्त होने पर बुद्धि ,जो बुद्धि से परे है उसमें विलीन हो जाती है । यह प्रणव की उपासना है, अर्थात् लय-चिन्तन योग हैं ।

अखंड समाधि क्या है ? यह=संसार, मैं=शरीर का अभिमानी, वह=परमात्मा, इन तीनों का एक हो जाना ही अखंड समाधि है ।

पाठ किसका करना चाहिये ? जो जीवन की घटनाओं का यथार्थ पाठ नहीं कर सकता, उसको पुस्तकों के पाठ से कुछ लाभ नहीं हो सकता, क्योंकि अच्छाई उत्पन्न होती है सीखी नहीं जाती । सीखी हुई अच्छाई कभी न कभी धोखा अवश्य देती है ।

यदि विचारपूर्वक देखें तो पाठकों को यह भली भाँति अनुभव होगा कि जीवन की प्रत्येक घटना कुछ न कुछ अर्थ अवश्य रखती है ।

विचारशील साधक उस घटना से अनुभव हुए ज्ञान को अपना लेते हैं और घटनाओं को भूल जाते हैं।

अविचारी साधक उस घटना से उत्पन्न हुए ज्ञान को भूल जाते हैं और घटना को याद रखते हैं।

ऐसी कोई प्रवृत्ति नहीं होती कि जिससे सुख तथा दुःख दोनों की अनुभूति न हो।

जिसकी दृष्टि दुःख होने पर सुख पर ही रहती है उसकी कर्म में रुचि बनी रहती है और बेचारा बड़े-से-बड़े दुःखों (जन्म-मरणादि) को उठाता रहता है।

जिसकी दृष्टि दुःख पर रहती है वह त्याग करने के लिये समर्थ होता है और विचारपूर्वक दुःख का अन्त कर देता है।

सत्संग क्या है ? सत्संग कहने में नहीं आता, किया जाता है। असत् का त्याग होने पर सत् का संग अपने आप होता है। अतः सत् हो कर ही सत् का संग किया जा सकता है।

असत् हो कर सत् की बातें करना साधारण मनुष्य सत्संग समझते हैं। वास्तव में वह सत्संग नहीं है।

---

२५ जनवरी १९४०

शरणागति का साधन क्या है ? शरणागत होने वाले महानुभाव को यह भली प्रकार जान लेना चाहिये कि—१. किसको शरणागत होना चाहिये। २. किसके शरणागत होना चाहिये और ३. किस लिये शरणागत होना चाहिये ?

१. शरणागत होने वाले का स्वरूप क्या है ? शरणागत होने की आवश्यकता उसको ही होती है जो किसी न किसी की शरणागत रहता है, अर्थात् जिसकी स्वतंत्र नित्य सत्ता नहीं है। जो स्वतंत्र नहीं है वह कुछ न कुछ करता है और जो कर्ता है, वह भोक्ता अवश्य है; अथात् शरणागत होने वाले का स्वरूप यही है जो (अ) स्वतंत्र न हो; (ब) जिसमें कर्तापन हो, (स) जिसमें भोक्तापन हो ।

२. शरणागत किसके होना चाहिये ? जो स्वतंत्र हो, नित्य हो, अखंड हो, अनन्त हो, सब प्रकार से पूर्ण हो, अनन्त-ज्ञान हो अर्थात् जिसमें किसी प्रकार की कमी न हो, उसकी शरण होना चाहिये। यदि किसी प्रकार का दोषमालूम हो तो उसकी शरण नहीं होना चाहिये ।

३. शरणागत किस लिये होना चाहिये ? जिसकी शरणागत होना हो उससे अभिन्न होने के लिये शरणागत होना चाहिये ।

शरणागत हो जाने का स्वरूप क्या है ? शरणागत होने वाला (कर्ता तथा भोक्ता) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध आदि विषयों का त्याग कर परमतत्व सच्चिदानन्दघन की शरण होकर उससे अभिन्न हो जाता है, अर्थात् द्रष्टा, दर्शन, दृश्य–त्रिपुटी का अभाव हो जाता है। यही शरणागति का स्वरूप है। जिस प्रकार पानी का बहाव रोक देने पर जहाँ से पानी निकलता था वहाँ अपने आप चढ़ जाता है, उसी प्रकार विषयों का त्याग करते ही विषयों का भोक्ता अपने आप अपने निज-स्वरूप परमतत्व में स्थायी भाव से विलीन हो जाता है ।

संयम क्या है ? जो सुनने वाले की प्रसन्नता के लिये बोलता है।

जो मिलने वाले की ,, ,, मिलता है।

जो खिलाने वाले ,, ,, ,, खाता है।

जिसकी आँखें रूप की सार्थकता ,, देखती हैं।

जिसके कान शब्द ,, ,, ,, सुनते हैं।

जिसकी नाक गंध ,, ,, ,, सूँघती है।

इसी न्याय के अनुसार जिसकी सभी क्रियाएँ होती हैं, उन क्रियाओं का कर्त्ता पर कुछ अर्थ नहीं होता। अर्थ रहित क्रियाओं से राग मिट जाता है। राग मिटते ही त्याग हो जाता है। त्याग होने पर धारणा, ध्यान तथा समाधि अपने आप हो जाती है और इन तीनों का एक हो जाना ही सच्चा सयम है।

[संयम पूरा हो जाने पर व्याकुलतापूर्वक सत् की अभिलाषा उत्पन्न होती है, जो सत् का मार्ग है।]



<u>२६ जनवरी १९४७</u>

सन्त-सन्देश

मन, इन्द्रिय आदि सभी सम्बन्धियों से कह दीजिये कि कृपया अब आप अपनी प्रसन्नता के लिये शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्ध आदि विषयों से सम्बन्ध न करें। बल्कि जो क्रिया जीवन के वास्ते परमावश्यक हो वह सिर्फ भगवान् के नाते से तथा उस क्रिया की सार्थकता के वास्ते करें। ऐसा करने से विषयों का राग मिट जायगा और संसार नीरस तथा निर्जीव हो जायगा। संसार के नीरस होते ही व्याकुलतापूर्वक आनन्दघन भगवान् की अभिलाषा उत्पन्न होगी। व्याकुलता बढ़ जाने पर सफलता अपने आप हो जाती है।

जब तक कुछ भी करते हो तब तक यह नहीं कह सकते कि धर्म कुछ नहीं, क्योंकि करना ही धर्म है।

जब तक कुछ भी जानना चाहते हो तब तक यह नहीं कह सकते कि गुरु की आवश्यकता नहीं, क्योंकि जानने की इच्छा ही शिष्य का स्वरूप है।

जब तक कुछ भी चाहते हो तब तक यह नहीं कह सकते कि ईश्वर कुछ नहीं, क्योंकि माँगना ही अपने से बड़ी सत्ता को स्वीकार कर लेना है।



२८ जनवरी १९४०

मनका निग्रह किस प्रकार हो सकता है ? सार्थक काम के पूरा करने से और निरर्थक काम का त्याग करने से मन का निग्रह अपने आप हो जाता है, क्योंकि काम को मन में जमा नहीं रखना चाहिये। अर्थात् काम न रहने से मन का निग्रह अपने आप हो जाता है।

सार्थक काम क्या है ? जिसके बिना कर्त्ता किसी प्रकार न रह सके तथा जिस काम के करने के साधन प्राप्त हो और जिसके करने से शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति हो, वही सार्थक काम है।

निरर्थक काम क्या है ? जो काम वर्तमान में न हो, अर्थात आगे पीछे का व्यर्थ चिन्तन करना तथा जिन कामो से शारीरिक, मानसिक और आत्मिक वह निरर्थक काम है।

अच्छाई बुराई क्यों होती है ? बुराई का चिन्तन करने से बुराई और भलाई का चिन्तन करने से भलाई अपने आप आ जाती है । इसलिये भूल कर भी किसी की बुराई का चिन्तन नहीं करना चाहिये, क्योंकि उसकी बुराई कर्ता में आती है और उसका भी अनहित होता है कि जिसकी बुराई की जाती है । तथा बुराई करने से भी बुराई का चिन्तन अधिक बुरा है और भलाई करने से भी भलाई का चिन्तन अधिक भला है ।

किसी को अच्छा कैसे बनाया जाय ? जिसको अच्छा बनाना चाहते हो उसमें अपने मन से उन्हीं अच्छे गुणों को स्थापित कर दोअर्थात् जैसा बनाना चाहते हो उन्हीं भावनाओं को उसमें देखो । बार-बार ऐसा चिन्तन करो कि वह अच्छा है । इससे कालान्तर में वह उसी प्रकार हो जायगा जैसा कि चिन्तन किया गया है ।

संसार के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये ? संसार हमारे प्रति जिस प्रकार की भावनाए करता है कर्ता को उसकी भावनाओं की पूर्ति के लिये यथाशक्ति क्रिया कर देनी चाहिये, अपना किसी प्रकार का भाव नहीं रखना चाहिये । ऐसा कर्ता करते हुए भी कर्म से छूट जाता है और भिन्न-भिन्न प्रकार की क्रियाएँ करते हुए भी उसकी समता बनी रहती है, क्योंकि वास्तव में उसकी ओर से प्रतिक्रिया होती है, क्रिया नहीं । ऐसी प्रतिक्रिया वही कर सकता है जिसके हृदयसे शत्रुता मित्रता का भाव मिट कर अभेदता का भाव हो गया है ।

मृतक के साथ सब से बड़ा कर्त्तव्य यही है कि उससे हमको

हमको मृतक के साथ क्या करना चाहिये ? अपना सम्बन्ध तोड़ देना चाहिये और हृदय से सद्भावपूर्वक मूक प्रार्थना करनी चाहिये, कि उस प्राणी का कल्याण हो, क्योंकि जब प्राणी स्थूल शरीर को छोड़ कर अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार की हुई इच्छाओं की पूर्ति के लिए योनि धारण करता है, तब यदि आप उसके साथ सम्बन्ध रक्खेंगे तो उसको योनि धारण करने में देर अवश्य होगी। इस लिये जल्दी सम्बन्ध तोड़ देना चाहिये।

मृत्यु क्या है ? मृत्यु को जानने के लिये जीवन का जान लेना आवश्यक है। जीवन इच्छाओं की पूर्ति के लिये मिला है, यह सभी जानते हैं। यदि सभी इच्छाओं की पूर्ति हो गई तो फिर जीवन की आवश्यकता नहीं होती। और जब जीवन की आवश्यकता नहीं होती तब मृत्यु की आवश्यकता नहीं होती। जीवन की आवश्यकता न रहने पर देहान्त होता हैं, मृत्यु नही, क्योंकि मृत्यु जीवन के लिये होती, अर्थात् जो इच्छाएँ शेष रह जाती हैं उनकी पूर्ति के लिये मृत्यु एक अवस्था हैं और कोई वस्तु नहीं।

जिस प्रकार थके हुए प्राणी को थकावट दूर करने के लिये नींद आवश्यक है, उसी प्रकार इच्छाओं के शेष रहने पर प्राणी को जीवन के लिये मृत्यु आवश्यक है।

दुःख की महिमा कमी होते हुए कमी का अनुभव न करना परम भूल है। दुखी होने पर कमी का अनुभव

और कमी के अनुभव करने पर दुःख होता है । मनुष्य किसी शरीर का नाम नहीं है । दुःख जीवन में परम आवश्यक वस्तु है, क्योंकि प्यारा दुःख हमको अनित्य से हटाकर नित्य आनन्द से मिलाता है । दुःख सब प्रकार के विकारों को मिटाकर अन्त में अपने आप मिट जाता है, दुःख के मिटने पर आनन्द का अनुभव होता है, दुःख के बिना जीवन बेकार समझना चाहिए, क्योंकि दुःख के बिना जीवन की पूर्णता सिद्ध नहीं होती ।

दुःख जैसी प्रिय वस्तु किसी और को न देनी चाहिये । यदि मिल सके तो दूसरों से ले अवश्य लेनी चाहिये, क्योंकि जो दूसरों के दुःख से दुःखी होते हैं उनको अपने दुःख से दुखी नहीं होना पड़ता ।

दुखियों के दुःख के आधार पर ही सुखियों का सुख, उन्नतिशीलों की उन्नति, विचारशीलों का विचार, प्रेमियों का प्रेम, विज्ञानियों का विज्ञान तथा योगियों का योग जीवित है । अर्थात् ऐसी कोई अच्छाई नहीं कि जिसका जन्म दुःख से न हो । दुखी को दुःख उस समय तक न भूलना चाहिये कि जब तक स्वयं मिटकर आनन्द में विलीन न हो जाय । दुःख से डरो मत । जो दुःख से डरता है वह कुछ नहीं कर सकता । आप के निज स्वरूप में अपार आनन्द छिपा है, जो दुःख की कृपा से मिलेगा, सुख की कृपा से नहीं ।

जीवन के दो ही स्वरूप सार्थक हैं, या तो हृदय में दुःख रूप अग्नि जलती रहे या हृदय में आनन्द का सागर लहराता रहे । इसके शिवा अन्य प्रकार का जीवन मनुष्यता के विरुद्ध है

---

४ फरवरी १९४०

ज्ञानयोग का साधन क्या है ? (१) जिन चीजों में अपने को रख दिया है उनसे अपने को हटा लो, और (२) जिन चीजों को अपने में रख लिया है, उनको अपने में से निकाल दो ऐसा करने से ज्ञानयोग अपने आप हो जायगा ।

माया के स्वरूप माया के दो स्वरूप हैं—(१) गुणमयी माया । (२) योगमाया । गुणमयी माया से बन्धन होता है और योगमाया से बन्धन छूट जाता हैं ।

राग-द्वेष, सुख-दुःख गुणमयी माया से होते हैं । त्याग, प्रेम तथा आनन्द योगमाया से होते हैं ।

इस प्रकार की इच्छाशक्ति उत्पन्न होने पर कि जिसके बिना किसी प्रकार नहीं रह सकते, अर्थात् व्याकुलतापूर्वक इच्छा उत्पन्न होने पर योगमाया का प्रादुर्भाव होता है । वास्तव में तो योगमाया व इच्छाशक्ति दोनों का स्वरूप एक है । गुणमयी माया से वासनाओं की उत्पत्ति होती है और योगमाया से वासनाओं की निवृत्ति होती है ।

गुणमयी माया=अविद्या, योगमाया=विद्या । जीव-भाव होने पर गुणमयी माया, ईश्वर-भाव होने पर योगमाया और ब्रह्म-भाव होने पर माया का अभाव हो जाता है ।

साधन से सफलता क्यों नहीं होती ? जिस प्रकार बिना प्राण का शरीर, कितना ही सुन्दर क्यों न हो, बेकार होता है, उसी प्रकार व्याकुलता रहित साधन, कितना ही उत्तम क्यों न हो, बेकार हो जाता है । साधन में सफलता न होने का

सिर्फ यही कारण है कि कर्ता जिस लिये साधन करता है, उसके बिना रह सकता है। यदि उसके बिना न रह सके तो सफलता अवश्य हो जाय।

क्या और किसी साधन की सहायता के बिना केवल व्याकुलता से सफलता हो सकती है ?

सभी मिठाइयों में मीठापन केवल खांड का होता हैं। यदि खाने वाले को सिर्फ मीठे की रुचि हो तो फिर उसको खांड के सिवाय और किसी मिठाई की आवश्यकता नहीं होती, परन्तु मीठे को भिन्न-भिन्न प्रकार से खाना चाहें तो और मिठाइयों की आवश्यकता होती है। उसी प्रकार सत्य के अभिलाषी को केवल व्याकुलता की आवश्यकता होतीं है, क्योंकि संसार की सहायता से सत्य नहीं मिल सकता। और जिसको भोगों की अभिलाषा है उसको व्याकुलता के साथ संसार की अन्य वस्तुओं की भी आवश्यकता होती है, क्योंकि कोई भी कर्म बिना संगठन के नहीं हो सकता। और कोई भी संगठन व्याकुलता के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता। इसलिये व्याकुलता तो प्रत्येक कार्य में आवश्यक है।

जिस प्रकार सभी मिठाइयों में मीठेपन की झलक केवल खांड की होती है उसी प्रकार सभी कर्मों में रस तथा आनन्द की झलक केवल सत्य की होती है। अतएव सत् और असत् से मिले हुए रस की रुचि हो तो व्याकुलता तथा साधन दोनों चाहिये और केवल सत् की अभिलाषा हो तो केवल व्याकुलता चाहिये।

व्याकुलता बढ़ जाने पर कान का वही स्वरूप हो जाता है कि जिसके लिये व्याकुलता होती है, अथात् सत् के अभिलाषी का

सत् से अभेद हो जाता है। इसलिए केवल सत् के अभिलाषी को अपने सिवाय और किसी की आवश्यकता नहीं होती।

सबसे बड़ा दुःख कब होता है ?

सबसे बड़ा दुःख मनुष्य को तब होता है जब वह अपनी दृष्टि में अपने को आदर के योग्य नहीं पाता, अर्थात् अपने में कमी का अनुभव करता है।

सबसे बड़ा सुख कब होता है ?

सबसे बड़ा सुख मनुष्य को तब होता है जब वह अपनी दृष्टि में अपने में किसी प्रकार की कमी नहीं पाता।

स्थायी प्रसन्नता किस प्रकार मिल सकती है ?

यदि स्थायी प्रसन्नता चाहते हो तो अपने से भिन्न अर्थात् दूसरों के सहारे से आने वाली सभी प्रसन्नताओं को मिटा दो, क्योंकि छोटी छोटी प्रसन्नताओं के मिट जाने पर अखण्ड स्थायी प्रसन्नता का अनुभव हो जाता है।



७ फरवरी १९४०

क्रिया किस में होती है और क्यों होती है ?

यदि विचार दृष्टि से देखा जाय तो यही मालूम होता है कि एक-एक कर्मेन्द्रिय का एक-एक ज्ञानेन्द्रिय से सम्बन्ध है। अतएव ज्ञानेन्द्रियों के बिना कर्मेन्द्रियों में क्रिया नहीं होती है। जिस प्रकार जो सुन नहीं सकता वह बोल नहीं सकता, ऐसा देखने में आता है। त्वचा का और हाथ का, नासिका का और गुदा का, आँख का और पैर का तथा रसना और उपस्थ का

भी उसी प्रकार सम्बन्ध है। परन्तु यदि मन ज्ञानेन्द्रियों का साथ न दे तो फिर ज्ञानेन्द्रियों में भी क्रिया नहीं हो सकती । यद्यपि प्रत्येक इन्द्रिय की क्रिया एक दूसरे से भिन्न प्रकार की है, किन्तु एक ही मन पाँचों इन्द्रियों से भिन्न-भिन्न प्रकार की क्रिया करता है, जिस प्रकार एक सेव के फल को रसना चखकर, आँख देखकर और नाक सूँघ कर सेव कहती है । अर्थात् क्रिया में भिन्नता होते हुए भी सभी इन्द्रियों का ज्ञान एक होता है। इससे यह भली प्रकार सिद्ध हो जाता है कि पाँचों इन्द्रियों का ज्ञान एक ही मन से होता है। यह भी अनुभव होता है कि यदि मन इन्द्रियों का साथ न दे, तो इन्द्रियाँ होते हुए भी बेकार सी हो जाती हैं। इससे यही समझना चाहिये कि मन के बिना इन्द्रियाँ काम नहीं कर सकतीं, और मन बुद्धि के बिना काम नहीं कर सकता। यद्यपि मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार इन चारों का स्वरूप एक है, किन्तु क्रिया-भेद से चार प्रकार के मालूम होते हैं, क्योंकि एक काल में चारों की क्रिया का एक साथ अनुभव नहीं होता। जब मन क्रिया करता है तब और अन्य तीनों नहीं करते, अर्थात् एक की ही क्रिया एक समय में होती है, परन्तु बुद्धि की आज्ञा को सभी स्वीकार करते हैं । बुद्धि की प्रवृत्ति चाह के अनुसार होती है, यदि किसी प्रकार की चाह न रहे तो फिर बुद्धि सम हो जाती है। बुद्धि के सम होते ही मन, इन्द्रियाँ आदि सभी सम हो जाती हैं, अर्थात् सभी क्रियाओं का अन्त सा हो जाता है।

अब यह विचार करना है कि चाह उत्पन्न क्यों होती है, और किसमें होतो है ? चाह उसमें उत्पन्न होती है कि जो विषयों के रस का आस्वादन करता है तथा जो अपने में किसी प्रकार की

कमी नहीं रखना चाहता है । उसमें ही, अर्थात् सीमित अहंभाव में ही चाह उत्पन्न होती है । यह भली प्रकार विचार करने से मालूम होता है कि चाह वास्तव में दो प्रकार की होती है । एक तो विषयों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) के रस के आस्वादन की और दूसरी किसी प्रकार की कमी न रहने की, अर्थात् सब प्रकार से पूर्ण होने की । इन दो प्रकार के सिवाय और किसी प्रकार की चाह कभी देखने में नहीं आती ।

विषयों की चाह की पूर्ति के लिए कर्म में रुचि होती है, और पूर्णता की चाह की पूर्ति के लिए ज्ञान में रुचि होती है, क्योंकि अनेक बार विषयों का रसास्वादन करने पर भी कमी शेष रहती है । इसलिए विषयों का त्याग करने लिए पूर्णता का अभिलाषी मजबूर हो जाता है । विषयों का राग मिटने पर कर्म की रुचि मिट जाती है और फिर एक ही चाह शेष रहती है । जिस समय वह एक चाह रह जाती है । उस समय संसार की सुन्दरता, सत्यता, सुखरूपता बिलकुल मिट जाती है । इन्द्रियों के ज्ञान पर बिल्कुल विश्वास नहीं रहता । ऐसी दशा में अजीब व्याकुलता होती है जो कहने में नहीं आती ।

सीमित अहंभाव न तो जड़ मालूम होता है न चेतन, क्योंकि जड़ से मिलकर जड़ और चेतन से मिल कर चेतन प्रतीत होता है । सीमित अहंभाव का स्वतन्त्र कोई स्वरूप नहीं दिखाई देता । सीमित अहंभाव के मिटने पर सभी प्रकार की क्रियाओं का अन्त हो जाता है । चाह के समूह के शिवाय

सीमित अहंभाव का और कोई स्वरूप नहीं मालूम होता, क्योंकि सभी चाहों के मिट जाने पर सीतित अहंभाव मिट जाता है और फिर संसार का पता नहीं चलता। शरीर और ससार दोनों का स्वरूप एक है, क्योंकि स्थूल शरीर का स्थूल पंचभूतों से अभेद सम्बन्ध है। जिस प्रकार सूर्य (अग्नितत्व) के बिना कोई भी आँख देख नहीं सकती और सूर्य के बिना किसी प्रकार का रूप बन नहीं सकता, अर्थात् सूर्य, आँख तथा रूप इन तीनों का एक ही स्वरूप है, उसी प्रकार आकाश के बिना शब्द उत्पन्न नहीं होता और आकाश के बिना कान सुन नहीं सकते, अर्थात् आकाश, शब्द और कान तीनों एक हैं। इसी प्रकार जल के बिना रस उत्पन्न नहीं होता और जल के बिना रसना रसास्वादन कर नहीं सकती अर्थात् जल, रस, रसना तीनों एक हैं। वायु के बिना त्वचा उत्पन्न नहीं होती और वायु के बिना स्पर्श भी नहीं हो सकता, अर्थात् वायु, त्वचा तथा स्पर्श तीनों एक हैं। पृथ्वी के बिना गन्ध उत्पन्न नहीं होती और पृथ्वी के बिना नासिका सूँघ नहीं सकती, अर्थात पृथ्वी, नासिका तथा गन्ध तीनों एक हैं।

इस प्रकार शरीर का कुल संसार से अभेद सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है। अतः ये अंग और अंगी के समान एक ही हैं। एक शरीर का अहंभाव ससार से भिन्नता मानने पर उत्पन्न होता है जो स्वरूप से मिथ्या है। शरीर का यथार्थ ज्ञान होने पर सीमित अहंभाव मिट कर असीम अहंभाव आ जाता है (अर्थात् जीव-भाव मिट कर ईश्वर-भाव आ जाता है), क्योंकि जो अंग का मालिक है वही अंगी का मालिक हो सकता है। अंगी का कोई अलग अभिमानी नहीं हो सकता।

सीमित अहंभाव का अभाव होने पर असीम अहंभाव भी मिट जाता है और फिर शुद्ध, निर्विकार, सब प्रकार से पूर्ण, अखंड, अविचल, आनन्दघन, बोधस्वरूप, स्वयंप्रकाश, परमतत्व शेष रहता है। उसमें कभी किसी प्रकार की क्रिया अनुभव नहीं होती और न पर-प्रकाश्य (असत्) जड़ संसार में ही क्रिया हो सकती है तथा जड़ और चेतन का मेल भी नहीं हो सकता, क्योंकि मिलाप अभिन्न स्वरूपों में ही हो सकता है, विरोधी स्वरूपों में नहीं। जिस प्रकार प्रकाश और अन्धकार दोनों कभी एक समय में नहीं मालूम होते उसी प्रकार जड़ और चेतन दोनों एक समय में अनुभूत नहीं होते। क्रिया चेतन में भी नहीं होती, क्योंकि वह पूर्ण है।

विषयों के राग और ज्ञान की कमी से सीमित अहंभाव उत्पन्न होता है और सीमित अहंभाव से ही क्रिया उत्पन्न होती है। सीमित अहंभाव बिना किसी के आधार के रह नहीं सकता। यह जिसको आधार करता है उसका ही स्वरूप हो जाता है, इसलिये सीमित अहंभाव में जड़ या चेतन की कल्पना करना उचित नहीं मालूम होती, सिवाय इसके कि चेतन का ज्ञान होने पर चेतन और जड़ का ज्ञान होने पर इसे जड़ कह देते हैं। वास्तव में तो उनका स्वरूप मिथ्या अनुभव होता है।

जिसका कारण मिथ्या है उसका कार्य सत्य नहीं हो सकता। अतः क्रिया किसमें होती है, क्यों होती है; इसका कथन नहीं किया जाता, बल्कि ज्ञान होने पर यह प्रश्न हल हो जाता है।

अतः पाठकों को चाहिये कि यह प्रश्न हल करके ही शान्ति प्राप्त करें, केवल सुनकर नहीं।

प्राणायाम

सुगमता से प्राणायाम किस प्रकार हो सकता है ? कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ दोनों मन में एक हो जाती हैं, इसीलिये मन में क्रिया और ज्ञान दोनों ही मालूम होते हैं। मन में जो ज्ञान शक्ति है वह बुद्धि का अंग है और जो क्रिया शक्ति है वह प्राण का अंग है। इसीलिये मन का निरोध होने पर प्राण का निरोध (कुम्भक) अपने आप हो जाता है। प्राण के निरोध से मन दब जाता है। अतएव मन और प्राण का घोड़े और सवार के समान सम्बन्ध है। अतः सुगमता के साथ प्राणायाम करने वाले महानुभावों को मन का विचार पूर्वक निरोध करना चाहिये।

योग क्या है ? भोग का अत्यन्त अभाव हो जाना ही वास्तव में योग है, क्योंकि विषयों से अरुचि होने पर योग की रुचि उत्पन्न होती है।



११ फरवरी १९४०

कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग

कर्मयोग में आस्तिकतापूर्वक कार्य कुशलता[1] होती है।

---

१. कर्म करते समय अपने को बचा न रक्खें, अर्थात् पूरी शक्ति लगा दे और जो काम जिसके लिये करना चाहिये उसके शिवाय किसी प्रकार की विलासिता का भाव नहीं होना चाहिये। यही कार्य-कुशलता है।

भक्तियोग में पवित्रतापूर्वक भाव की प्रबलता[1] होती है ।
ज्ञान योग में असंगतापूर्वक विचार की विशेषता[2] होती है ।

कर्मयोग प्रेमपात्र के नाते से न्यायपूर्वक यथाशक्ति वर्तमान में ही सभी कामोंको करने पर योग अपने आप हो जाता है, अर्थात् वियोग का दुःख मिट जाता है तथा प्रेमपात्र का अनुभव होकर अनुपम अचल आनन्द प्राप्त होता है ।

भक्ति-योग लगातार स्मरण, चिन्तन, ध्यान होने से जब अत्यन्त व्याकुलता बढ़ जाती है तब सद्भाव[3] पूर्वक सब कुछ समर्पण होने से योग अपने आप हो जाता है । अर्थात् भक्त की दृष्टि में सृष्टि का अभाव हो जाता है और अखंड सच्चिदानन्दघन ही सब ओर अनुभव होता है, क्योंकि जिस प्रकार रात्रि का अभाव होने पर दिन अपने आप आ जाता है उसी प्रकार संसार का अभाव होने पर प्रेमपात्र आ जाता है ।

---

१. स्वार्थ का लेशमात्र भी भाव न हो, अर्थात सब प्रकार का राग मिट जाय और प्रेमपात्र के मिलने का भाव निरन्तर उत्तरोत्तर बढ़ता रहे । यही पवित्रतापूर्वक भाव की प्रबलता है ।

२. विचार द्वारा जो निर्णय हो उसके विपरीत क्रिया करने में असमर्थ हो जाय अर्थात् ज्ञान और अभ्यास का एक स्वरूप होना ही विचार की विशेषता है ।

३. सद्भाव क्या है ?—जिस भावना के विपरीत भाव न हो, अर्थात् एक बार होने पर ही सदा के लिये अचल हो जाय । जैसे पतिव्रता नारी जिसको एक बार अपना पति मान लेती है उस भाव को फिर किसी प्रकार भी मिटा नहीं सकती ।

ज्ञान-योग विचारपूर्वक अत्यन्त जिज्ञाशा बढ़ जाने पर जब बनाये हुए सभी संगठन मिट जाते हैं,तब अकथनीय अपार निज स्वरूप का अनुभव होने से योग अपने आप हो जाता है और फिर किसी प्रकार की कमी शेष नहीं रहती ।

[१-कर्म-योग में करने का भाव होता है । २-भक्ति-योग में होने का भाव होता है । ३-ज्ञान-योग में असंगता तथा न होने का भाव होता है ।]



१३ फरवरी १९४०

धर्म क्या है ? जिसके धारण करने से भय-रहित नित्य शान्ति प्राप्त हो ।

धर्मानुसार व्यवहार किस प्रकार किया जाय ? यदि आप अपने किये हुए काम से मुक्त नहीं होते तो समझ लो कि आपने उस काम को धार्मिक दृष्टि से पूरा नहीं किया, क्योंकि प्रत्येक काम का करना न करने के लिये अर्थात् उस काम से ऊपर उठ जाने के लिये होता है ।

धर्मानुसार कार्य करने वाले महापुरुषों को यह भली प्रकार जान लेना चाहिये कि धर्म की प्रवृत्ति भोग तथा मोक्ष दोनों के लिये होती है । वे भोग, जिनको पूरा करने के लिये साधन प्राप्त हैं, यथाशक्ति अपने को पूरा लगा कर भोगने पर उनमे अरुचि उत्पन्न हो जायगी । उस समय

१. मानी हुई सत्ता में सद्भाव का हो जाना ही संगठन है, अर्थात् सभी व्यक्तित्व संगठन से बनते हैं । जैसे शब्द, स्पर्श रूप, रस, गंध का समुदाय होने पर शरीर का व्यक्तित्व बना है अर्थात् जो कुछ बुद्धि आदि का विषय हो सकता है उसे संगठन समझना चाहिये ।

उनको चाहिये कि उस अरुचि को स्थिर करने का प्रयत्न करें, अर्थात् भोग के अन्त में दुःख से छूटने (मोक्ष) की रुचि बढ़ायें। वह रुचि फिर उनको भोग की ओर नहीं जाने देगी । जिस प्रकार शोधन किया हुआ संखिया अनेक प्रकार के रोगों को मिटा देता है उसी प्रकार धार्मिक भाव से भोगे हुए भोग, भोग-वासना से ऊपर उठा देते हैं ।

—※—

वासना की निवृत्ति कैसे हो ? विचार करो कि वासना क्यों उत्पन्न होती हैं ? वासना उत्पन्न होने का कारण केवल यही है कि जिसकी वासना होती है उसका अभी ज्ञान नहीं हुआ है, अर्थात् वह नहीं मिला । जिसको भोग का ज्ञान हो जाता है उसकी भोग-वासना मिट जाती है और जिसको मोक्ष का ज्ञान हो जाता है उसकी मोक्ष-वासना मिट जाती है ।

ऐसा कोई भोग नहीं होता कि जिसका अन्त न हो परन्तु भोग का अन्त होने पर धर्मानुसार आचरण न करने वाले महानुभाव, भोगने की शक्ति न होते हुए भी, व्यर्थ भोगों का चिन्तन करते हैं अर्थात् धर्म का दूसरा अंग जो मोक्ष है उससे विमुख हो जाते हैं ।

धर्मात्मा पुरुष की संसार अभिलाषा करता है, क्योंकि धर्मात्मा संसार की अभिलाषा नहीं करता । अभिलाषा वही करता है, जो अपने धर्म का पालन नहीं करता । सारा संसार धर्मात्मा के दर्शन की प्रतीक्षा में है । यदि आप संसार को अपनी ओर बुलाना चाहते हैं, तो धर्म का पालन करें ।

धर्मात्मा अपनी ओर देखता है, संसार की ओर नहीं । अर्थात् यदि धर्मात्मा पिता है तो वह यह नहीं देखता कि पुत्र

कैसा है, बल्कि यह देखता है कि पुत्र के साथ क्या करना चाहिये। धार्मिक भाव से पिता हो जाने पर पुत्र-वासना मिट जाती है ।

धर्मात्मा को यह देखने तथा सुनने की फुरसत नहीं होती कि संसार क्या देखता है, क्या करता है, क्योंकि बेचारा संसार तो वह करना चाहता है जो धर्मात्मा करता है और वह सुनना चाहता है जो धर्मात्मा कहता है । संसार की ओर वही देखता है जो अपने धर्म का पालन नहीं करता ।

धर्म एक है अनेक नहीं । जिस प्रकार रेलवे स्टेशन पर मुसलमान के हाथ में होने से मुसलमान पानी और हिन्दू के हाथ में होने से हिन्दू पानी कहलाता है, यद्यपि बेचारा पानी न तो हिन्दू होता है न मुसलमान उसी प्रकार जब लोग धर्मात्मा को किसी कल्पना में बाँध लेते हैं तब उसके नाम से उस धर्म को कहने लगते हैं, वास्तव में तो धर्म वह है जो करने में आये, कहने में नहीं । यदि यह जानना चाहते हो कि धर्म क्या है, तो यही कहा जा सकता है कि धर्म के न रहने से किसी प्रकार का आदर नहीं रहता और अधर्मी का सभी तिरस्कार करते हैं, जिस प्रकार जब अग्नि में अग्निपन नहीं रहता, तब उस राख को टट्टी पर डालकर फेंक देते हैं कि जिसका पहले पूजन करते थे तथा जिससे सभी डरते थे । संसार की बड़ी से बड़ी शक्ति भी धर्मात्मा का तिरस्कार नहीं कर सकती ।

अब अपनी दृष्टि से अपने को देखो कि आपके साथ संसार क्या करता है ? संसार उसका ही तिरस्कार कर सकता है कि जो अपनी दृष्टि से अपने को आदर के योग्य नहीं पाता। धर्मात्मा ही अपनी दृष्टि से अपने को आदर के योग्य पाता है ।

—※—

ओ३म्

स्वामीजी के कुछ पत्रोत्तर

कबीर चौरा, बनारस सिटी
२० मार्च १६४० ई०

(१)

प्रिय आनन्दघन !

कृपापत्र मिला। सद्भावपूर्वक सम्बन्ध बदलता नहीं और न दो चीजों से होता है, अर्थात् एक ही से होता है। सम्बन्ध होने पर प्रेम-पात्र से अपनत्व हो जाता है। अब विचारपूर्वक देखो क्या आपका शरीर से अपनत्व नहीं रहा ? यदि नहीं रहा तो अपनत्व किससे है ? जिससे अपनत्व हो जाता है उसके बिना कल नहीं पड़ती और अन्त में एकता अनुभव होती है। जब उनसे अपनत्व नहीं है तब जिससे अपनत्व है उसको मिटाओ, अर्थात् अपने में जो शरीर-भाव स्थापित कर लिया है, उसको विचारपूर्वक निकाल दो। किसी के निकलने पर किसी का आना अवश्य होता है, क्योंकि स्थान खाली नहीं रहता। सम्बन्ध कभी धीरे-धीरे नही होता, एक बार होता है। सम्बन्ध की आवश्यकता अनुभव करो। आवश्यकता होने पर आप सम्बन्ध करने के लिए मजबूर हो जाएँगे। जो करना होता है वह किया नहीं जाता, बल्कि उसका कारण उपस्थित होने पर करना अपने आप हो जाता है।

आस्तिकता की दृढ़ता अपने आप, आस्तिकता की आवश्यकता होने पर होगी। आस्तिकता के बिना क्या आप अपनी रुचि की पूर्ति कर पाते हैं ? अर्थात् क्या शरीर तथा संसार की सहायता से आपकी रुचि पूरी हो सकती है ? यदि पूरी नहीं हो सकती तो फिर बिना आवश्यकता के संसार की ओर क्यों देखते हैं ? यदि यह कहो कि नहीं देखते, तो फिर किसकी ओर देखते हो ? संसार की ओर देखने की रुचि मिट जाने पर संसार नहीं दिखाई देता, बल्कि ऐसा मालूम होता है कि पानी में डूबा हुआ आदमी कभी पानी के ऊपर आने पर संसार को देखता है, कभी डूब जाने पर नहीं देखता । और जब तक रुचि बनी रहती है तब तक सिवाय संसार के कुछ और अनुभव नहीं करता । संसार की ओर से की हुई प्रतिक्रियाओं से क्रियायें होती हुई सी मालूम होती हैं, करने का भाव नहीं होता । देखो जिस प्रकार भोजन पचता रहता है, परन्तु आपको यह नहीं मालूम रहता कि हम भोजन पचाते रहते हैं, 'स्वयं पच रहा है'—ऐसा सभी को मालूम होता है, उसी प्रकार करने का भाव मिट जाने पर भी क्रिया हो सकती है. पर उन क्रियाओं का फल कुछ नहीं बनता। कर्ता मिटकर अपनी रुचि के अनुसार स्वरूप को धारण करता है । देखो जिसमें चाह उत्पन्न हुई है जब तक वह नहीं मिटता तब तक चाह के अनुरूप किस प्रकार हो सकता है ? यह सभी जानते हैं कि एक चीज मिटकर दूसरी चीज बनती है। प्राणी मिटने के डर से सत्य से विमुख रहता है । सुख-दुःख मिटने पर आनन्द आ जाता है। संसार से सम्बन्ध होने पर सुख-दुःख का अनुभव होता है और मिटने पर आनन्द का। आनन्द की स्थायी अभिलाषा होने पर आस्तिकता दृढ़ हो जायगी।

इसी प्रकार संसार की चाह मिटने पर संसार से सम्बन्ध नहीं रहेगा। देखो, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि की आवश्यकता संसार की चाह होने पर होती है। संसार की चाह मिटने पर इन सब का काम शान्त हो जाता है। इनका काम शान्त होते ही सच्ची आस्तिकता आ जाती है जो फिर जाती नहीं। घड़े को तोड़कर मिट्टी का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर बना हुआ घड़ा देखने पर भी मिट्टी का ही ज्ञान होता है। एक बार मिट्टी के ज्ञान के लिये घड़े का तोड़ना आवश्यक है उसी प्रकार सत्य के ज्ञान के लिये संसार का त्याग आवश्यक है। सत्य का मार्ग इतना तंग है कि उस पर आप अकेले ही जा सकते हैं। इसलिये इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के साथ रहने का मोह छोड़ दें। इनके साथ रहकर आप उस तंग रास्ते पर नहीं चल सकते। अकेले होने पर मार्ग अपने आप दिखाई देगा। ओ३म् आनन्द आनन्द।

आपका अभेदस्वरूप

....

———

(प्रश्न—जब सुख का परिणाम दुःख है तो प्राणी दूसरों को सुख क्यों दे ?

(२)

दारानगर, काशी

२१ मार्च १९४० ई०

प्रिय आनन्दघन !

जो प्राणी सुख-भोग करता है वही दुःख पाता है इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। दूसरों को सुख देने का प्रयत्न करने वाला स्वयं दूसरे के दुःख से दुःखी होता है और यह नियम है कि दुःख

आ जाने पर विचार उत्पन्न होता है, जो उन्नति का मूल है । जिस प्राणी का जीवन दूसरों की पूर्ति के लिये होता है, उसके हृदय में संसार का सच्चा स्वरूप प्रकट हो जाता है और वह फिर उससे ऊपर उठ जाने के लिये समर्थ हो जाता है, अर्थात् फिर उसे सुख तथा दुःख स्पर्श नहीं कर पाते ।

संसार का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिये दुखियों के साथ प्रेम करना आवश्यक है । किसी को सुख इसलिये नहीं दिया जाता कि उसकी उन्नति होगी, बल्कि सुख देने वाला स्वयं अपनी उन्नति करता है और सुख लेने वाले का हृदय इस प्रकार का हो जाता है कि वह फिर दूसरे दुखियों के दुःख से दुखी होने लगता है, जिससे फिर वह भी उन्नति की ओर चलता है । सुख और दुःख रास्ते के मुकाम हैं ठहरने के स्थान नहीं । दुःख का ज्ञान होने के लिये सुख आवश्यक है, क्योंकि सुख के बिना दुःख का अनुभव हो नहीं सकता और दुःख के बिना जीवन अधूरा समझना चाहिये । दूसरे का दिया हुआ सुख विचारशील को इसलिये स्वीकार कर लेना चाहिये कि दूसरों को सुख देने का ढंग आ जाय । जो स्वयं दुखी नहीं होता वह सुख दे नहीं पाता । सुख देने वाले महानुभाव के हृदय में सर्वदा रसीला दुःख रहता है, नीरस नहीं । नीरस दुःख तो दूसरों को दुःख देने से होता है । इसलिये दुःख देने वाला अवनति की ओर जाता है ।

यदि कोई ऐसी क्रिया हो कि जिसमें दोनों एक दूसरे से सुख का अनुभव करें' जैसे मित्र-मित्र, पति-पत्नी तथा पिता-पुत्र आदि अनुभव करते हैं, तो ऐसी क्रियाओं में न तो सुख देने का भाव होता है और न दुःख देने का, बल्कि एक दूसरे को अपनी पूर्ति प्रतीत

होती है । जो क्रिया अपनी पूर्ति के भाव से की जाती है, वह कालान्तर में दुःख अवश्य हो जाती है और जो क्रिया भावरहित की जाती है, उसका अर्थ कुछ नहीं होता, अर्थात् बेकार होती है । जब तक स्थायी आनन्द न मिले तब तक हृदय में रसीला दुःख होना चाहिये, जो दुखियों से प्रेम करने पर होता है । सुखमय जीवन तो सर्वदा अवनति की ओर ले जाता है । ओ३म् आनन्द आनन्द ।

आपका अभेदस्वरूप

....

— — —

(भगवत्कृपा कैसे प्राप्त हो ?)

(३)

कबीरा चौरा, बनारस
२८ अप्रैल १९४०

प्रिय आनन्दघन !

जिस प्राणी को अपने कर्तव्य का बल होता है, वह कर्तव्य की शक्ति समाप्त कर देने पर भगवत्-प्राप्ति कर पाता है । और जिस प्राणी को अपने कर्तव्य का बल नहीं होता वह भगवत्-कृपा से भगवत् प्राप्ति कर लेता है । उनकी कृपा का आधार सर्वोत्तम आधार है । कृपा का अभिलाषी निरन्तर कृपालु की बाट देखता रहता है, यहाँ तक कि उसे प्रेम पात्र की प्रतीक्षा में पलक तक चलाने की फुरसत नहीं मिलती । मन, इन्द्रिय आदि चेष्टा रहित हो जाते हैं और हृदय एक अजीब मधुर रस से भर जाता है । ऐसी अवस्था बनाई नहीं जाती, बल्कि हो जाती है । यह नियम है कि बनाई हुई सभी वस्तुऐं मिट जाती हैं । इसलिये अपने को बनाओ मत । जिस समय

आपके हृदय की सरलता कम हो जाय उस समय सचेत हो जाना चाहिये। करने के आधार मे किसी प्रकार उनको नहीं पा सकते, क्योंकि करने वाला मजदूर है। कर्तव्य का अभिमान सच्ची व्याकुलता नहीं होने देता, अभिमान मिटने पर व्याकुलता अपने आप आ जायगी। दूसरों के कर्तव्य को वही देखता है जो अपने कर्तव्य का पालन नहीं करता। उन्होंने कृपा नहीं की' यह कैसे जाना ? आपको जो करना है वह कर डालो, उनको जो करना है वह वे स्वयं करेंगे। जिन्होंने उनकी कृपा का सहारा पकड़ा है, वे सभी पार हो गये हैं, ऐसा अनेक घटनाओं से अनुभव हुआ है। जो संसार का सहारा नहीं पकड़ता उसे कुछ भी करना शेष नहीं रहता। जिस समय आप अकेले हो जायेंगे, वह बिना बुलाये आ जायेंगे। यदि उनसे मिलना चाहते हो तो अकेले हो जाओ। मिलने के पहले स्तुति करना अपने आपको धोखा देना है, क्योंकि जिसका ज्ञान नहीं उसकी स्तुति कैसी ? मिलने की भावना पूरी होने पर हृदय की जो दशा होती है, वही स्तुति है। दूसरों की की हुई स्तुति आपके किस काम आयेगी ? संसार से निराश हो जाओ, यही सच्चा भजन है। ओ३म् आनन्द आनन्द।

आपका अभेदस्वरूप

....

(वैराग्य आदि किस प्रकार सीखा जाय ?)

जीवन की समस्त आवश्यकताएं जीवन में उपस्थित हैं, परन्तु जीवन को जब हम बाह्य रंगों में रंग देते हैं तब जीवन का वास्तविक स्वरूप हम नहीं जान पाते। बिचार दृष्टि से देखो कि गहरी नींद में समस्त संसार छूट जाता है और किसी प्रकार

का दुख: नहीं मालूम होता है। स्वप्न में जागृत का संसार छूट जाता है और जागृत में स्नप्न का संसार छूट जाता है। इससे यह भली प्रकार मालूम होता है कि संसार की सभी परिस्थितयों के बिना भी हम रह सकते हैं, हमको अपने लिये संसार की आवश्यकता नहीं रहती। संसार सिर्फ हमारा खिलौना है, और कुछ नहीं। खिलौनों में आसक्ति अबोध बालक की होती है, विचारशील की नहीं।

—*—

सत्-उपदेश

१—अपने को शरीर कभी मत समझो।

२—किसी भी काम से प्रसन्नता मत खरीदो।

३—सत्य के लिये भविष्य की आशा मत करो।

४—भूत काल की सभी घटनाओं को भूल जाओ।

५—अनुकूलता की आशा तथा प्रतिकूलता का भय मत करो।

६—थोड़े-थोड़े समय बाद हृदय से प्रेमपात्र को बुलाया करो।

७—जो वस्तु कर्म से प्राप्त होती है उसके लिये संसार की सहायता तथा भविष्य की आशा की आवश्यकता होती है, परन्तु जो वस्तु त्याग से प्राप्त होती है उसके लिये संसार की सहायता तथा भविष्य की आशा की आवश्यकता नहीं होती।

—*—

अन्तिम-संदेश

व्यक्तित्व की गुलामी से सत्य नहीं मिलता।

———



अजमेर का सत्संग

२१ मार्च १९४१

चाह होते हुए भजन क्यों नहीं होता ?

भजनकर्ता महानुभाव को भजन करने से पहले यह भलीभाँति समझ लेना चाहिये कि भजन क्यों करना चाहिये ? यह नियम है कि आवश्यकता के अनुसार कर्त्ता की प्रवृत्ति स्वाभाविक हो जाती है। अतः कर्ता को क्रिया के आरम्भ से प्रथम अपनी आवश्यकता का भली प्रकार ज्ञान होना चाहिये। आवश्यकतारहित कर्त्ता का कोई स्वरूप नहीं, जिस प्रकार रूप की आवश्यकता ही आँख की क्रिया है; रूप की आवश्यकता निकाल देने पर आँख का स्वरूप शेष नहीं रहता। आवश्यकता के अनुसार कर्त्ता क्रिया करने में पूर्ण स्वतन्त्र हैं। परतंत्रता उन्हीं क्रियाओं में मालूम होती है, जिनको कर्त्ता अपने लिये नहीं करता, अर्थात् जो क्रियाएँ कर्त्ता की आवश्यकता की पूर्ति में समर्थ नहीं होतीं।

क्रिया में प्रवृत्ति संकल्प की दृढ़ता से होती है। संकल्प इच्छा के अनुसार होता है और इच्छाएँ अभिलाषा के अनुसार होती हैं। अतः यथार्थ स्थायी अभिलाषा होने पर शुभ इच्छाएँ अवश्य उत्पन्न होंगी। शुभ इच्छाओं के अनुसार शुभ संकल्प और संकल्प के अनुसार क्रिया में प्रवृत्ति होती है।

यद्यपि प्रत्येक मानव भजन करता है, परन्तु आस्तिक समुदाय उसको भजन के भाव से स्वीकार नहीं करता। गहराई से देखो, भजन की आवश्यकता क्यों होती है? भजन की आवश्यकता दो अवस्थाओं में होती है, एक तो यथार्थ अभिलाषा का बोध होने पर, दूसरे शक्तिहीनता का अनुभव होने पर। शक्ति-संचय के लिये सभी भजन करते हैं।

भजन का वास्तविक स्वरूप क्या है? वर्तमान विषय-जन्य प्रवृत्ति से हट जाना। शक्तिहीनता का अनुभव होने पर भजन करने वाला कुछ काल के लिये ही उस प्रवृत्ति से हटता है, क्योंकि शक्ति संचय कर वह फिर विषयों में प्रवृत्त हो जाता है। परन्तु यथार्थ अभिलाषी विषयों की प्रवृत्ति से सदा के लिये हट जाता है। अत: वह जिसका भजन करता है, उससे उसका अभेद हो जाता है।

यथार्थ अभिलाषा का बोध विषयों के समझने पर होता है। विचारो, स्वतंत्रता सभी को प्रिय है, परन्तु विषयों को प्राप्त करने में सभी परतंत्रता का अनुभव करते हैं। तथा विषयों के उपभोग एवं उनको सुरक्षित रखने में भी परतंत्रता का अनुभव होता है। अत: बेचारे विषयी का जीवन परतंत्रतामय हो जाता है, अर्थात् विषयों की प्रवृत्ति ही परतंत्रता है। इसलिए स्वतंत्रता का अभिलाषी ही सच्चा भजन करने में समर्थ होता है।

भजन करते हुए भी भजन में सफलता क्यों नहीं होती ?

भजन होने पर भजन में सफलता अवश्य होती है, क्योंकि भजन प्राकृतिक कर्म के समान नहीं है। प्राकृतिक कर्म अपने से भिन्न बाह्य साधन युक्त होता है तथा भविष्य में फल देता है और भजनकर्त्ता स्वयं ही भजन कर सकता है, अर्थात्

उसे किसी और बाह्य साधन की अपेक्षा नहीं होती। अतः भजन वर्त्तमान में ही, जिसके लिये किया जाता है उसकी अनुभूति कराने में समर्थ होता है, क्योंकि वास्तव में वह स्मरण स्मरण नहीं है, जिससे कि स्मरण से पूर्व जो सत्ता प्रतीत होती है, उसका विस्मरण न हो जाय, अर्थात् यह अखंड नियम है कि किसी का स्मरण किसी का विस्मरण हो जाता है।

नाम तथा मंत्र आदि का जप तो केवल नामी के अनन्त एश्वर्य-माधुर्य-सम्पन्न स्वरूप की सत्ता की स्वीकृति में समर्थ है, अर्थात् नाम आदि का जप तो एक शुभ कर्म ही है, जो अशुभ कर्म को हटाने में समर्थ है, प्रेम-पात्र से मिलाने में तो स्मरण अर्थात् विरह की व्याकुलता ही समर्थ है।

प्रत्येक कर्त्ता में क्रिया-शक्ति, भाव-शक्ति तथा ज्ञान-शक्ति विद्यमान है। विषयासक्त प्राणी क्रिया-जन्य आसक्ति का रस चखता है। क्रिया-जन्य रस बिना संगठन के सिद्ध नहीं होता। अतः विषयी बेचारा संसार की गुलामी से छूट नहीं पाता। यदि की जाने वाली सभी आवश्यक क्रियाओं को एक ही भाव में विलीन कर दिया जाय तो फिर क्रिया-जन्य रस की आसक्ति मिट जाती है। उसके मिटने ही क्रिया भाव में विलीन होती है, अर्थात् व्याकुलतापूर्वक प्रेम-पात्र से मिलने की रुचि उत्पन्न हो जाती है। जब व्याकुलता पूर्ण हो जाती है तब भाव-शक्ति ज्ञान-शक्ति में विलीन हो प्रेम-पात्र को मिलाने में समर्थ होती है, अर्थात् ज्ञान से ही प्रेम पात्र का अनुभव होता है, क्योंकि न जानने की दूरी है। उत्पन्न होने वाली सभी सत्ताएँ उसी समय तक जीवित रहती हैं, जब तक कि वे पूर्ण नहीं हो जातीं।

क्रिया की पूर्णता यही है कि हमारी सभी क्रियाएँ प्रेम-

पात्र के नाते से सभी के लिये हों, क्योंकि किसी भी व्यक्ति की संसार से भिन्नता नहीं है। अतः विश्व के साथ एकता करना आवश्यक है और उस विश्व की सेवा प्रेमपात्र के नाते से करनी है, विश्व के नाते से नहीं। क्रिया की पूर्णता होने पर क्रिया-जन्य रस अर्थात् विषयों का राग शेष नहीं रहता। जिस कर्म से विषय-विराग न हो वह कर्म अधूरा है। अधूरा कर्म करने वाला प्राणी कर्म से छूट नहीं सकता. यद्यपि करने का अन्त करना सभी को प्रिय है परन्तु सभी अपने को बचाते हैं, इसलिये छूट नहीं पाते।

जो भक्त-प्रेम-पात्र के नाते से सेवाभावपूर्वक सभी आवश्यक क्रियाओं को करता है, वह प्रत्येक क्रिया के अन्त में प्रेमपात्र की ओर स्वयं चला जाता है। अन्तर सिर्फ यह रहता है कि क्रियाके अन्त में किसी भक्त का तो स्मरण होता है और किसी का ध्यान। स्मरण, ध्यान आदि से उत्थान होने पर जब बार-बार व्याकुलता होती है तब भक्त उस व्याकुलता को सहन नहीं कर पाता। बस, उसी काल में भक्त-प्रेम-पात्र की कृपा से अभिन्न हो जाता है। सेवा-भाव पूर्ण होने पर क्रिया का रस नहीं आता, बल्कि भाव का रस आता है, जिससे तन्मयता बढ़ती जाती है। यद्यपि तन्मयता का रस भी भाव की कमी है, क्योंकि उसमें भोक्ता की सत्ता शेष रहती है। यद्यपि भावजन्य रस अत्यन्त मधुर है, किन्तु नित्य नहीं। भाव की पूर्णता होने पर व्याकुलता की अग्नि से भोक्ता की सत्ता मिट जाती है, यही भाव की पूर्णता है।

भोक्ता की सत्ता का मिट जाना ही प्रेम-पात्र से एकता है।

हमारी चाह का अन्त क्यों नहीं होता ?

माने हुए सम्बन्ध की स्वीकृति से जातीय अभिलाषा, अर्थात् प्रत्येक मानव जो अपने में किसी प्रकार की कमी रखना पसन्द नहीं करता, वह किसी प्रकार मिट नहीं सकती। अब बिचारो कि माना हुआ सम्बन्ध किससे है ? माना हुआ सम्बन्ध शरीर आदि सभी संसार से है, क्योंकि शरीर से किसी काल में भी स्वरूप से एकता नहीं होती। यह सभी कथन करते हैं कि 'यह मेरा शरीर है'। माने हुए सम्बन्ध की अस्वीकृति करने पर केवल आनन्द की अभिलाषा शेष रहती है, वह विषयों की सभी इच्छाओं को खा लेती है और अन्त में निज-स्वरूप अथवा प्रेम-पात्र की कृपा से पूर्ण हो जाती है। यदि चाह का अन्त करना चाहते हो तो विचारपूर्वक माने हुए सम्बन्ध का अन्त कर दो। जातीय अभिलाषा स्वयं अपनी पूर्ति में समर्थ हैं, उसकी पूर्ति के लिये किसी बाह्य परिस्थिति की आवश्यकता नहीं है। आनन्द से मानी हुई दूरी और संसार से माना हुआ सम्बन्ध है। यह नियम है कि जिससे मानी हुई दूरी होती है उसकी अभिलाषा मिटा देने से उसकी दूरी मिट जाती है, क्योंकि जातीय एकता का त्याग नहीं हो सकता, सिर्फ अभिलाषा के कारण दूरी प्रतीत होती है। जिससे माना हुआ सम्बन्ध होता है, उसकी चाह मिटा देने से सम्बन्ध मिट जाता है, क्योंकि माने हुए सम्बन्ध से जातीय एकता नहीं होती। अतः दोनों प्रकार की चाह का अन्त कर देने पर किसी भी प्रकार की कमी शेष नहीं रहती।

क्या ईश्वर को बिना समझे-बूझे ईश्वर की भक्ति नहीं करनी चाहिये?

यह बात ठीक है कि बिना समझे-बूझे कोई भी कार्य नहीं करना चाहिये, परन्तु विषयासक्त प्राणी तो संसार को बिना समझे बूझे ही संसार में प्रवृत्त रहता है, क्योंकि संसार के समझने पर, संसार से ऊपर उठने के लिये, स्वयं रुचि हो जाती है, अर्थात संसार के समझने पर संसार में प्रवृत्ति नहीं रहती । जब संसार में प्रवृत्ति नहीं रहती और आवश्यकता शेष रहती है, तब आवश्यकता की पूर्ति के लिये जिसमें प्रवृत्ति होती है, वही ईश्वर है । प्यारे, जब एक क्रिया का अन्त होता है और दूसरी क्रिया उदय नहीं होती तब आप किसमें रहते हो? अनुभव तो करो । वही भक्तों का ईश्वर है । जिस प्रकार संसार को बिना समझे, संसार में प्रवृत्त होने पर, संसार की सत्ता प्रतीतिमात्र भासित होती है और उसी भासित सत्ता में आसक्ति होने से संसार से भिन्न और कुछ दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार ईश्वर के स्वरूप को बिना समझे भी यदि व्याकुलतापूर्वक ईश्वर की भक्ति करता है तो भक्त ईश्वर के वास्तविक स्वरूप को जानने में समर्थ होता है, क्योंकि भक्ति ईश्वर के स्वरूप को जानने में साधन है । जानने पर भक्ति और भक्ति होने पर जानना स्वयं हो जाता है । भक्ति का वास्तविक स्वरूप विरह का दुःख और मिलन का आनन्द है । प्यारे, विचारो तो सही, जिस प्रकार संसार को समझने पर विषय-विराग होता है और विषय-विराग से इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि की प्रवृत्ति रुक जाती है, जिससे फिर संसार की सत्ता प्रतीत नहीं होती, उसी प्रकार विरह से विश्वासमार्गी भक्त के बुद्धि आदि के दर्वाजे बन्द हो

जाते हैं और वह मिलन के आनन्द का अनुभव करने लगता है। जिस प्रकार विचार की कमी से तत्व-निष्ठा नहीं होती, उसी प्रकार भाव की कमी से मिलन नहीं होता। विचार की पूर्णता में तत्व-निष्ठा और भाव की पूर्णता में मिलन अपने आप हो जाता है। विश्वासमार्गी अथवा विचारमार्गी पूर्ण होने पर दोनों एक हो जाते हैं, क्योंकि प्रेम अथवा ज्ञान दोनों का स्वरूप एक है। प्रेम में भी क्रिया नहीं होती और ज्ञान में भी क्रिया नहीं होती।

विचारमार्गी का जो स्वरूप होता है, विश्वासमार्गी की वह अवस्था होती है। स्वरूप से उत्थान नहीं होता, अवस्था से उत्थान होता है, अर्थात् बार-बार विरह होता है। जब विरह इतना बढ़ जाता है कि वियोग असह्य हो जाता है, तब प्रेम-पात्र की कृपा से विश्वासमार्गी अभेद-भाव का अनुभव करता है। आवश्वकता होने के कारण विश्वासमार्गी यद्यपि ईश्वर के स्वरूप को नहीं जानता, किन्तु उसकी सत्ता को हृदय से स्वीकार करता है। विचारमार्गी जिज्ञासा करता है, जिज्ञासा और भक्ति इन दोनों का अर्थ स्वरूप से एक है, क्योंकि दोनों ही विषय-विराग में समर्थ हैं। अतः बिना समझे-बूझे भी ईश्वर-भक्ति में लाभ है, किन्तु संसार को बिना समझे उसमें प्रवृत्त होने में हानि है।

—*—

२२ मार्च १९४१

इच्छाशक्ति की कमी किस प्रकार पूरी हो सकती है?

ऐसी कोई 'कमी' नहीं है जिसकी पूर्ति 'न करने से' न हो। 'न करना' सभी को प्रिय है, परन्तु अन्तर सिर्फ इतना है कि बिषयी

बेचारा तो विषय-प्रवृत्ति के अन्त में, शक्ति-हीनता मिटाने के लिये आराम करता है। आराम क्रिया नहीं होती, यह सभी जानते हैं। अतः इस प्रकार 'वह न करने' की शरण लेता है, परन्तु उसकी रुचि में विषय-प्रवृत्ति विद्यमान रहती है। अतः आराम से शक्ति पाकर वह फिर विषय-प्रवृत्ति करता है। किंतु भक्त अपने को समर्पण कर 'न करने' की अवस्था को प्राप्त होता है। भक्त की रुचि में प्रेम-पात्र का मिलन विद्यमान है, अतः समर्पण होने पर मिलन का अनुभव होता है। जिज्ञासु असंगता के भाव से 'न करने' का अनुभव करता है। उसकी रुचि में तत्व साक्षात्कार विद्यमान है, अतः 'न करने' से वह तत्व-ज्ञान का अनुभव करता है।

व्यर्थ चेष्टाओं का निरोध करने पर इच्छाशक्ति जागृत हो जाती है और अन्त में इच्छाशक्ति स्वयं अपने इच्छित लक्ष्य से अभिन्न होती है।

विषयी को बार-बार इच्छाशक्ति जागृत करनी पड़ती है, क्योंकि वह उसका दुरुपयोग करता है। पर भक्त तथा जिज्ञासु को इच्छाशक्ति बार-बार जागृत नहीं करनी पड़ती, क्योंकि वे उसका सदुपयोग करते हैं।

बार-बार दुरुपयोग करने पर जब विषयी बेचारे को महान् दुःख होता है तब वह अपनी रुचि के बदलने में समर्थ होता है।

मानव-जीवन की पराकाष्ठा क्या है ? किसी प्रकार की कमी शेष न रहे, अर्थात् पूर्णता का अनुभव हो।

मानव-जीवन का आरम्भ क्या है ? अपनी कमी का अनुभव करना और उसको मिटाने का प्रयत्न करना, यही मानव-जीवन का आरम्भ है।

कमी का अनुभव करने से क्या लाभ होता है ? गहराई से देखो, सबसे बड़ा दुःख कब होता है ? जब व्यक्ति अपनी दृष्टि से अपने में कमी का अनुभव करता है, तब सबसे बड़ा दुःख होता है। यह नियम है कि अत्यन्त दुःख होने पर दुःखी अपनी वर्त्तमान परिस्थिति से ऊपर उठ जाता है, अर्थात् उसे बदल देता है और फिर उस कमी को मिटाने में समर्थ होता है। अतः उन्नतिशील मानव को प्रथम कमी का अनुभव करना आवश्यक है। यदि कमी का अनुभव कर मिटाने का प्रयत्न न किया तब भी मानवता नहीं कही जा सकती, क्योंकि मानवता व्यक्ति नहीं है; बल्कि जीवन की एक अवस्था है, जो उन्नति के लिये एकमात्र सर्वोत्तम अवस्था है।

मानवता कब तक रहती है ? जीवित वही अवस्था रहती है जो पूर्ण नहीं होती। पूर्ण मानवता होने पर मानवता का अन्त हो जाता है, अर्थात् 'पूर्ण' से अभिन्न हो जाती है, जो मानव की वास्तविक रुचि है।

क्या पूर्णता जीवन में ही मिल सकती है ? यदि जीवन में ही पूर्णता न मिले तो जीवन का मूल्य ही कुछ नहीं। यदि जीवन में ही पूर्णता न मिल सके तो पूर्णता सिर्फ कल्पना-मात्र होगी। पूर्णता जीवन में ही मिल सकती है, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। गहराई से देखो, जो चाह किसी प्रकार मिटाई नहीं जा सकती उसका पूर्ण होना परम अनिवार्य है।

कमी का रहना किसी को प्रिय नहीं, अतः कमी का अन्त करने के लिये ही जीवन मिला है ।

मानव जीवन में वे सभी साधन विद्यमान हैं जिनसे कि जीवन में ही जीवन की पूर्णता का अनुभव हो सकता है, परन्तु बाह्य रंगों से अपने को रंग लेने से वे छिप-से जाते हैं । व्याकुलता के प्रभाव में बाह्य रंग धुल जाते हैं । क्या व्याकुलता प्रत्येक मानव में नहीं ? अर्थात् सभी में है । जो पूर्णता के लिए व्याकुल होता है वही उसे अनुभव करता है । जिस प्रकार सभी मिठाइयों में मिठास चीनी की होती है, उसी प्रकार सभी साधनों में प्रधानता व्याकुलता की होती है । पूर्णता की निराशा-पापिनी व्याकुलता को दबा देती है, मिटा तो पाती नहीं । अतः इस पापिनी को जीवन में मत आने दो । दबी हुई व्याकुलता बार-बार उत्पन्न होती है, अतः उसको पूर्ण कर दो । व्याकुलता के सभी ऋणी हैं, क्योंकि वह पूर्ण करने पर ही साथ छोड़ती है । अतः व्याकुलता का कोई भी प्रत्युपकार नहीं कर पाता । जीवन में व्याकुलता के समान कोई भी हितैषी मित्र नहीं है । अतः उस परम हितैषी मित्र का आदर करो, हृदय में स्थान दो, जीवन का अंग बनाओ । वह आपका पूर्णता से अभेद करने में समर्थ है । व्याकुलता-रहित जीवन बेकार है ।

क्या मृत्यु होने पर पूर्णता नहीं मिल जाती ?

गहराई से देखो, जिसको आप मृत्यु कहते हैं, वह तो नवीन जीवन को उत्पन्न करने के लिये एक विशेष अवस्था है । जीवन की परिस्थिति को देखो, क्या है ? कुछ इच्छाएं पूर्ण हो चुकी हैं, कुछ इच्छाओं को पूर्ण करने के लिये प्रयत्न कर

रहे हो, और कुछ इच्छाएँ जमा हैं। इसके सिवाय वर्तमान जीवन और कुछ नहीं। जब जीवन की क्रिया-शक्ति क्षीण हो जाती है और इच्छाएँ शेष रहती हैं, तब प्रकृति-माता क्रिया-शक्ति, प्रदान करने को कुछ काल के लिये अपने में विलीन कर लेती हैं और फिर नवीन जीवन देती हैं। जब तक इच्छाएं बनी रहती हैं तब तक जीवन की सभी अवस्थाएँ बार-बार होती रहती हैं। जीवन का सदुपयोग करने पर इच्छाओं का जीवन में ही अन्त हो जाता है। बस, उसी काल में जीवन में ही पूर्णता अनुभव होती है, मृत्यु होने पर नहीं। मृत्यु तो सिर्फ प्राणी को नवीन जीवन देने में समर्थ होती है, पूर्णता देने में नहीं। पूर्णता का अभिलाषी तो जीवन में ही पूर्णता का अनुभव करता है, अर्थात् पूर्णता का सम्बन्ध तो वर्तमान जीवन से ही है।

मन के निरोध का उपाय क्या है ? आवश्यक कार्य को पूरा करने और अनावश्यक कार्यों का त्याग करने पर मन का निरोध अपने आप हो जाता है। यदि यह नहीं कर सकते तो फिर ऐसा करो कि अपने माने हुए अहं को जो शरीर-भाव से मिला दिया है उसको बदल दो—यदि भाव की प्रधानता हो तो 'मैं भक्त हूँ, शरीर नहीं'। यदि विचार की प्रधानता हो तो 'मैं जिज्ञासु हूँ, शरीर नहीं'। यह दोनों प्रकार के अहं अधिकारी भेद से आदरणीय हैं। अहं के बदलने से कियाएँ बदल जाती हैं। माने हुए अहं के मिटने से कियाएँ मिट जाती हैं। 'मैं जिज्ञासु हूँ' यह अहं उसी समय तक जीवित रहता है जब तक कि जिज्ञासा पूर्ण नहीं होती। 'मैं भक्त हूँ' यह अहं उसी समय तक जीवित रहता है जब तक भक्ति पूर्ण नहीं होती। अहं के अनुसार जीवन होने पर ही अहं की पूर्णता होती है, अर्थात् माने हुए अहं

का अन्त हो जाता है। भक्त भगवान् तथा जिज्ञासु तत्वज्ञ हो जाता है, इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं।

क्या निवृत्ति मार्ग-वाले भक्त तथा जिज्ञासुओं से संसार को कुछ भी लाभ नहीं, क्या वे केवल अपने स्वार्थ में ही लगे रहते हैं ?

गहराई से देखो, जीवन की आवश्यकता क्या है ? प्रत्येक मानव में क्रिया, भाव तथा ज्ञान तीनों प्रकार की शक्ति विद्यमान है। क्रिया शक्ति की आसक्ति उसी-समय तक रहती है, जब तक विषयों से पूर्ण विराग नहीं होता। विषय-विराग होते ही क्रिया-जन्य रस का कुछ भी मूल्य नहीं रह जाता। जो प्राणी विषयों में आसक्त हैं उनको उन्नति की ओर जाने के लिये विश्व की बाह्य क्रियाओं से सेवा करना परम आवश्यक है, क्योंकि जो दूसरों के दुःख से दुखी नहीं होता वह अपने निजी दुःख से बच नहीं सकता, क्योंकि विश्व स्वरूप से एक जीवन है। दुखियों के होते हुए दुःख न हो, यह सर्वदा असम्भव है, अतः विश्व के साथ एकता का भाव करना आवश्यक है। परन्तु जब हम केवल शरीर-जन्य व्यापार अर्थात् इन्द्रियों की क्रियाओं से दुखियों का दुःख मिटाने में सफल नहीं हो पाते, तब इन्द्रियों की क्रियाओं से ऊपर आने के लिये मजबूर हो जाते हैं और फिर भाव की पवित्रता से दुखियों के भाव को पवित्र करने में लग जाते हैं। परन्तु भाव ज्ञान के अनुसार ही होते हैं। अतः यथार्थ ज्ञान के बिना पूर्ण पवित्र भाव नहीं हो सकते और भाव की पवित्रता के बिना क्रिया में पवित्रता नहीं आ सकती। अपना तथा दूसरों का सुधार करने के लिये पूर्ण ज्ञान आवश्यक है। ज्ञान के अनुसार भाव और भाव के अनुसार क्रिया स्वाभाविक हो जाती है। ज्ञान की पूर्णता होने पर भाव और क्रिया बंधन में नहीं डाल सकते। जिस प्रकार

सूर्य से अनन्त आँखें देखती हैं, किन्तु सूर्य को यह अभिमान नहीं होता कि मैं दिखलाता हूँ, अथवा फूल के खिलने से स्वयं गंध फैलती है. परन्तु बेचारा फूल यह प्रकट नहीं करता कि मैं गंध फैलाता हूँ, उसी प्रकार तत्ववेत्ताओं से अथवा परम भक्तों से विश्व का कल्याण स्वयं होता है। अन्तर सिर्फ यही होता है कि विश्व उनको नहीं जान पाता कि ये हमारा कल्याण कर रहे हैं, अर्थात् वे भौतिक दृष्टि से 'लीडर' के रूप में नहीं दिखाई देते। प्यारे, गहराई से देखो, हाथ पैर द्वारा पानी खींच कर कितनी जमीन छिड़क सकते हो, अधिक से अधिक बीघा दो बीघा, किन्तु बादल बनकर कितनी छिड़क सकते हो ? यह भली प्रकार समझ लो कि जो स्थूल होता है वह परिच्छन्न अर्थात् सीमित होता है और जो सूक्ष्म होता है वह विभु होता है। क्रिया से भाव सूक्ष्म है और भाव से ज्ञान सूक्ष्म है। क्या आज मीरा, सूरदास, तुलसीदास अनेक भक्तों का कल्याण नहीं कर रहे हैं और क्या तत्ववेत्ता भगवान् शंकर, बुद्ध आदि भी अनेक जिज्ञासुओं का कल्याण नहीं कर रहे हैं ! जिज्ञासा अथवा भक्ति भी तो जीवन की आवश्यक वस्तु है। क्या यह किसी प्रकार जीवन से मिट सकती है ? तो फिर कैसे कहा जा सकता है कि भक्तों तथा तत्ववेत्ताओं से संसार का कल्याण नहीं होता ? यह तो बताओ, कहीं बुराइयों की भी पाठशालाएँ खोली जाती हैं ? बुराइयाँ तो अधिकतर छिप कर ही की जाती हैं, किन्तु समाज में अपने आप फैल जाती हैं, तो क्या तत्ववेत्ताओं का तत्वचिन्तन बुराइयों के समान भी शक्ति नहीं रखता ? प्यारे, स्थूल शरीर के अभिमान के कारण साधारण प्राणी सूक्ष्म सेवा को देख नहीं पाते, यह उनकी दृष्टि की कमी है। जो अपना कल्याण

नहीं कर सकता वह विश्व-कल्याण किसी प्रकार भी नहीं कर सकता। अपना कल्याण ही विश्व का कल्याण है, और विश्व का कल्याण ही अपना कल्याण है, क्योंकि दोनों की स्वरूप से एकता है। व्यक्ति का अभिमान लेकर उतना सुधार नहीं कर सकने जितना विश्व का अभिमान लेकर विश्व का सुधार कर सकते हो। विश्व के साथ सच्ची एकता अनुभव करने के लिये बाह्य-प्रवृत्ति का त्याग अनिवार्य है, तो फिर निवृत्ति-मार्ग व्यर्थ कैसे हो सकता है? समाज के सभी बड़े-बड़े सुधारक वे ही हुए हैं जिनके जीवन में निवृत्ति प्रधान थी। जब प्रत्येक प्रवृत्ति का अन्त होता है, तब आप स्थायी प्रवृत्ति के लिये कैसे कह सकते हैं? विचार-दृष्टि से तो दूसरे के सुधार की धूम केवल कथनमात्र है। जो अपने को जितना बड़ा अनुभव करता है वह उतना ही अधिक सुधार करता है, अर्थात् अपना ही सुधार करता है। हिंदू लीडर 'मैं हिंदू हूँ' मुसलमान लीडर 'मैं मुसलमान हूँ' यह अपने को मान कर सुधार करते हैं, अर्थात् अपने को व्यक्ति से समाज में परिणित कर देते हैं। समाज का दुःख ही उनका दुःख है। वे बेचारे निरन्तर अपना दुःख मिटाने के लिये प्रयत्न करते हैं। यह बात सिर्फ देखने मात्र है कि वे दूसरों का सुधार करते हैं। जो नेता अपने को मानव मानते हैं, वे विश्व के मानव के साथ अपने को अभेद करते हैं। यद्यपि वे बेचारे सामाजिक संकीर्ण क्षेत्र के नेताओं से अवश्य महान हो जाते है, परन्तु तत्ववेत्ताओं से तो अल्प ही रहते हैं, क्योंकि तत्ववेत्ता तो विश्व को अपना स्वरूप जान कर, केवल मान कर नहीं, अपना कल्याण करता है। अतः तत्ववेत्ताओं से ही सम्पूर्ण विश्व का कल्याण हो

सकता है। तत्ववित् होने के लिए निवृत्ति परम आवश्यक है। निवृत्ति की तैयारी के लिए सेवा-भाव अर्थात् दुखियों के दुःख से दुःखी होना अनिवार्य है, क्योंकि जिसका हृदय दुखियों के दुःख से हरा-भरा नहीं रहता वह विषयों की आसक्ति त्यागने में असमर्थ है। अतः दुखियों की सेवा का फल विषय-विराग है, विषय-विराग होने पर भक्त तथा जिज्ञासु का जीवन आरम्भ होता है।

जीव और ईश्वर का क्या सम्बन्ध है और जीव को ईश्वर की उपासना कैसे करनी चाहिए ?

जीव और ईश्वर अंग और अंगी के समान हैं। जब जीव अपनी अल्पज्ञ और ईश्वर की सर्वज्ञ सत्ता स्वीकार करता है, तब उपासना करने की रुचि उत्पन्न होती है, क्योंकि अल्पज्ञ हमेशा सर्वज्ञ होने के लिए प्रयत्न करती है।

उपासना अपने से भिन्न किसी प्रतीक में, जो अपनी रुचि के अनुसार हो, सर्वोत्कृष्ट भाव स्थापित करना है, अर्थात् जो अनन्त ऐश्वर्य-माधुर्य-सम्पन्न है, उसमें अपने भाव के अनुसार अपने को समर्पण कर देना अथवा तन्मय कर देना ही उपासना है। परन्तु जिसको किसी भी प्रतीक में रुचि न हो उसको अपने में ही ऐश्वर्य-माधुर्य-सम्पन्न सर्वोत्कृष्ट तत्व की स्थापना कर उसकी रजा में राजी रहने का अभ्यास करना अथवा अपने माने हुए अहंभाव को समर्पण कर देना उपासना है। उपासना का वास्तविक तत्व यह है कि उपास्यदेव से भिन्न जो कुछ प्रतीत होता है उसका अभाव हो जाय, अथवा उपास्यदेव से भिन्न और किसी की सत्ता शेष न रहे।

जो स्वरूप ध्यान में दिखाई देता है क्या उससे बात-चीत हो सकती है ? गहराई से देखो, यदि वह स्वरूप केवल ध्यान-जन्य क्रिया के आधार पर ही प्रतीत हुआ है तब तो ध्यान-जन्य रस आ सकता है और कुछ नहीं, परन्तु यदि भाव की प्रबलता से स्वरूप का प्राकट्य हुआ है, तभी तो भाव के अनुसार बातचीत हो सकती है, क्योंकि कुछ सज्जन चित्त के निरोधमात्र के लिये ही ध्यान करते हैं, भाव की कमी होती है। भाव के बिना भगवत्-लीलाओं का साक्षात्कार नहीं हो सकता। भाव में सद्भाव, माने हुए देहभाव के मिटने पर होता है और भाव का सद्भाव होने पर प्रेम या विरह अथवा मिलन का आनन्द अवश्य होता है।

स्मरण करने से क्या लाभ है ? नाम तथा मंत्रादि का जप करने से नामी की सत्ता की स्वीकृति हो जाती है और यह नियम है कि सद्भावपूवक सत्ता की स्वीकृति होने पर सद्भावपूर्वक सम्बन्ध हो जाता है, तथा सम्बन्ध होते ही प्रेमपात्र का विरह उत्पन्न होता है।

सब सन्देह दूर कब हो जाते हैं ? यह (संसार), वह (परमात्मा) और मैं इन तीनों का यथार्थ ज्ञान होने पर सभी सन्देह निवृत्त हो जाते हैं।

यथार्थ ज्ञान कैसे हो ? इन तीनों में से किसी एक का यथार्थ ज्ञान होने पर तीनोंका यथार्थ ज्ञान हो जाता है।

'मैं' का यथार्थ ज्ञान कैसे होगा ? जिन चीजों को अपने में रख लिया है,उनको निकाल दो और जिन चीजों में अपने को रख दिया है उनसे अपने को हटालो, ऐसा होते ही 'मैं' का यथार्थ ज्ञान हो जायगा।

संसार का ज्ञान कैसे हो ? संसार के जानने में वही समर्थ हो सकता है जो अपने को संसार से ऊपर उठा लेता है क्योंकि जिससे माना हुआ सम्बन्ध होता है उससे असंग होने पर ही उसका यथार्थ ज्ञान हो सकता है। संसार से माना हुआ सम्बन्ध है, जातीय नहीं।

परमात्मा का ज्ञान कैसे हो ? जिन चीजों से माना हुआ सम्बन्ध होता है उनसे यदि अपने को हटा लिया जाय तो उन चीजों का ज्ञान हो जाता है, परन्तु जिससे जातीय सम्बन्ध होता है उससे अपने को अभिन्न कर देने पर उसका ज्ञान होता है। परमात्मा से माना हुआ सम्बन्ध नहीं है, बल्कि जातीय सम्बन्ध है। सिर्फ मानी हुई दूरी है जो अभेद-भाव से मिट जाती है, अर्थात् परमात्मा से अभिन्न होकर ही परमात्मा का पूर्ण ज्ञान हो सकता है।

सद्भाव होने पर भी यदि प्रेम-पात्र का मिलन नहीं होता तो क्या करना चाहिये ? गहराई से देखो, सद्भावपूर्वक सम्बन्ध होने पर प्रेमी को कुछ भी करना शेष नहीं रहता है, फिर तो प्रेम-पात्र की ओर से कर्तव्य-शेष रहता है। यदि वे नहीं आते तो न आयें। अब हम उनके सिवाय किसी और को देखेंगे नहीं, ऐसी दृढ़ता प्रेमी को स्थायी भाव से रखनी चाहिये। वे इसलिए नहीं आते कि वियोग से ही प्रीति रस की दृढ़ता होती है। जिस काल में प्रीति रसपूर्ण हो जाती है, उसी काल में प्रेमी की रुचि के अनुसार प्रेम-पात्र का प्राकटय होता है। प्रेमी को प्रेम-पात्र के प्रभाव में तनिक भी सन्देह नहीं करना चाहिये। वे दुःखहारी हैं, भयहारी हैं, फिर भला कैसे नहीं आवेंगे ? जब कोई भी दुःख हमेशा नहीं रहता तब भला

उनके न मिलने का दुःख हमेशा कैसे रह सकता है ? अर्थात् वे आने के लिए मजबूर हो जायेंगे। जिस प्रकार फाँसी का कैदी सभी सजाओं से छूट जाता है, उसी प्रकार सद्‌भावपूर्वक समर्पण करने वाला 'करने' से छूट जाता है। प्रेम-पात्र ऐसे प्रेमी का ध्यान करते हैं, आते हैं अथवा उससे प्रेम करते हैं। प्रेमी में कुछ करने की शक्ति नहीं रहती। करने की शक्ति शेष रहना प्रेमी की कमी है। करना तब तक है जब तक करने की शक्ति हो। प्रेम की पूर्णता होने पर करने की शक्ति शेष नहीं रहती, अर्थात् मिट जाती है।

योग का फल क्या है ? योग रुचि की पूर्ति के लिए कल्पतरु के समान है, अर्थात् जिस भाव से योग किया जाता है, वही प्राप्त हो जाता है। यही योग का फल है।

सृष्टि का अन्त कब होता है ? मानी हुई सत्ता की अस्वीकृति होने पर तत्व-दृष्टि, और भाव का सद्‌भाव होने पर भक्त दृष्टि होती है। तत्व-दृष्टि तत्व में से भिन्न कुछ नहीं भासता और भक्त-दृष्टि में प्रेम-पात्र से भिन्न कुछ नहीं दिखाई देता। तत्व-दृष्टि और भक्ति-दृष्टि दोनों में ही सृष्टि का अन्त हो जाता है। सृष्टि केवल अपने में विषयादिक-भाव को धारण करने से प्रतीत होती है। विषयासक्त बेचारा मानी हुई सत्ता को स्वीकार करता है, अतः यही सृष्टि के प्रतीत होने का कारण है। कारण का नाश होने पर कार्य का नाश अपने-आप हो जाता है। अतः विषय-जन्य स्वभाव का अन्त होने पर सृष्टि का अन्त हो जाता है।

तुरीयावस्था क्या है ? यदि तुरीयावस्था का अनुभव करना चाहते हो तो अपने को जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों

अवस्थाओं से असंग कर लो। गहराई से देखो, तीनों अवस्थायें जागृत में भी होती हैं। स्थूल शरीर आदि द्वारा जो अनुभव करते हो वह जागृत है, कारण और सूक्ष्म शरीर द्वारा जो अनुभव करते हो वह स्वप्न है, सिर्फ कारण शरीर द्वारा जो अनुभव करते हो वह सुषुप्ति है। तुरीया का अनुभव शरीर द्वारा नहीं कर सकते। तीनों शरीरों से असंग होने पर तुरीयावस्था का अनुभव होता है।

हम तीनों शरीरों से असंग कैसे हो सकते हैं ?

यदि तीनों शरीरों से असंग होना चाहते हो तो प्रथम जागृत अवस्था से अर्थात् इन्द्रिय-विषयों से सम्वन्ध विच्छेद करो और फिर मन आदि से भी किसी विषय का चिन्तन मत करो, अर्थात् अचिंत हो जाओ। अचिंत होते ही निर्विकल्प स्थिति अर्थात् जागृत में ही सुषुप्ति हो जायगी। इस निर्विकल्प स्थिति से भी असंग होने पर निर्विकल्प बोध स्वयं होगा जो तीनों शरीरों से असंग करने में समथ है। अतः निर्विकल्प बोध होने पर ही तीनों शरीरों से असंगता प्राप्त होगी।

वर्तमान युद्ध आध्यात्मिक दृष्टि से क्या अर्थ रखता है ?

राष्ट्र अथवा समाज अथवा व्यक्ति विषयासक्ति के कारण उस सुख को स्वीकार करता है जो किसी का दुःख होता है (अर्थात् किसी को दुःख देकर सुख लेता है)। गहराई से देखो तो सही, जिस सुख का जन्म ही दुःख से हुआ है वह अन्त में महादुःख के सिवाय और क्या होगा ? राष्ट्रादि में स्वार्थभाव उत्पन्न होते ही उसकी विरोधी सत्ता प्रथम बेचारी दुखियों के मन में संकल्परूप से उत्पन्न होती है। पशु-बल के अभिमानी राष्ट्र आदि तो उन दुखियों के संकल्प की

और देखने वाली दृष्टि बन्द कर लेते हैं, परन्तु प्रकृति-माता तो प्रत्येक संकल्प की पूर्ति करने में निरन्तर लगी रहती हैं। अतः उन्हीं दुखियों के संकल्प से पशु-बल के अभिमानी राष्ट्र, समाज तथा व्यक्तियों को मिटाने के लिये शक्ति उत्पन्न हो जाती है। बस यही वर्तमान युद्ध का कारण है।

२८ मार्च १९४१

क्या शरीर को अमरत्व प्राप्त हो सकता है ? जिसको अमरत्व की अभिलाषा होती है उसको अमरत्व प्राप्त होता है। गहराई से देखो, दो प्रकार की इच्छाएं मानव-जीवन में दिखाई देती है। भोग की चाह के लिये शरीर आदि मिले हैं और अमरत्व की अभिलाषा भी है जो किसी प्रकार मिटायी नहीं जा सकती। जिस काल में अमरत्व की पूर्ण अभिलाषा जागृत हो जाती है, अर्थात् भोग की चाह मिट जाती है, तब अमरत्व की अभिलाषा पूर्ण होने में समर्थ होती है। भोग की चाह मिटते ही विषय इन्द्रियों में, इन्द्रिय मन में, मन बुद्धि में, बुद्धि अहं में, और अहं अमरत्व की अभिलाषा में विलीन हो अमरत्व से अभिन्न हो जाता है, क्योंकि प्रत्येक अभिलाषा अपने लक्ष्य से अभिन्न हो जाती है। इस दृष्टि से सभी अमरत्व को प्राप्त कर सकते हैं।

दुःख किसमें होता है ? गहराई से देखो, जब आप स्वीकार करते हैं कि जड़ को दुःख नहीं होता और चेतन को भी दुःखनहीं होता तथा जड़-चेतन का मेल भी नहीं होता तो फिर दुःख किसको होता है ? दुःख उसको होता है जो न तो जड़ है और न चेतन है, परन्तु जो जड़ से

मिलकर जड़-सा और चेतन से मिल कर चेतन सा हो जाता है, अर्थात् वह अहं जो अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखता बल्कि अपने में किसी प्रकार के माने हुए स्वभाव को स्वीकार कर लेता है। उस स्वभाव की अनुकूलता में सुख और प्रतिकूलता में दुःख का अनुभव करता है। अथवा यों कहो कि दुःख उसको होता है जिसको सुख होता है, क्योंकि सुख से ही दुःख का जन्म होता है। जो अहं अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं रखता बल्कि किसी माने हुए स्वभाव के आधार पर जीवित है, वह स्वरूप से न तो जड़ है न चेतन। जिस प्रकार भोक्ता न जड़ है न चेतन, उसी प्रकार सुख तथा दुःख न जड़ है न चेतन।

वास्तव में द्वैत है या अद्वैत?

जब तक चाह है तक तक द्वैत प्रतीत होता है, चाह का अन्त होने पर अद्वैत ही शेष रहता है। चाह की उत्पत्ति ही अन्त होने के लिये होती है।

हमने कोई व्यक्ति तत्वज्ञ नहीं देखा तत्व-ज्ञान केवल कल्पनामात्र है।

यदि तत्व-ज्ञान कल्पना मात्र है तो तत्व क्या है? यदि तत्व नहीं बता सकते तो फिर तत्व-ज्ञान कल्पना कैसे है, यह कथन ही निरर्थक है। तत्वज्ञ व्यक्ति नहीं है इसमें कोई सन्देह नहीं, वह तो निज स्वरूप है जिसे जिज्ञासु अनुभव करते हैं, व्यक्ति नहीं। जिस प्रकार भक्त ही भगवान् का साक्षात्कार करते हैं, उसी प्रकार जिज्ञासु ही तत्व का अनुभव करते हैं। व्यक्ति-भाव तो भक्त अथवा जिज्ञासु का भाव आने पर ही निर्मूल हो जाता है। प्यारे, यह नियम है कि एक वस्तु मिटने पर ही दूसरी वस्तु बनती है। व्यक्ति-भाव मिट कर जिज्ञासु-भाव और जिज्ञासु-भाव मिटकर तत्ववित् होता है। अतः तत्ववित्

होकर ही तत्व को जान सकोगे और किसी प्रकार नहीं।

हमारे लिए कौन-सा साधन उपयुक्त है? सब प्रकार की चाह का अन्त कर देना ही सर्वोत्तम साधन है। यदि यह नहीं कर सकते तो चाह होते हुए चैन से न रहना ही साधन है, क्योंकि बेचैनी ही चाह की पूर्ति में समर्थ है। यदि जीवन में व्याकुलता की कमी हो, अर्थात् चाह होते हुए भी चैन मालूम हो तो दुखियों का पूजन करो, आदर करो और यथाशक्ति सेवा करो, जिससे वे व्याकुलता प्रदान करें, जो उन्नति का मूल है।

प्रवृत्ति श्रेष्ठ है या निवृत्ति? पूर्ण निवृत्ति होने पर पूर्ण प्रवृत्ति होने पर और पूर्ण प्रवृत्ति होने पर पूर्ण निवृत्ति हो जाती है। परन्तु पूर्ण निवृत्ति से उत्पन्न होने वाली प्रवृत्ति का प्रभाव कर्त्ता पर कुछ नहीं होता, अर्थात् प्रवृत्ति उस पर शासन नहीं कर पाती, क्योंकि सब उसके हो जाते हैं, वह किसी का नहीं होता।

पूर्ण प्रवृत्ति होने पर स्वार्थ भाव अर्थात् विषयासक्ति का अन्त हो जाता है। विषयासक्ति का अन्त होते ही प्रवृत्ति स्वयं निवृत्ति में बदल जाती है। अपूर्ण प्रवृत्ति हो अथवा निवृत्ति परन्तु पूर्ण होनी चाहिए, टुकड़ों की निवृत्ति तथा प्रवृत्ति कुछ मूल्य नहीं रखती।

जिसका जीवन दूसरों की पूर्ति के लिए होता है वही पूर्ण प्रवृत्ति कर सकता है। जो वीतराग होता है, वही पूर्ण निवृत्ति कर सकता है। अतः पूर्ण प्रवृत्ति तथा पूर्ण निवृत्ति दोनों का अर्थ एक है। पूर्ण होने पर दोनों ही श्रेष्ठ हैं, परन्तु साधनकाल में प्रवृत्ति की अपेक्षा निवृत्ति अधिक स्वाभाविक है, क्योंकि

निवृत्ति के लिए बाह्य संगठन की आवश्यकता नहीं होती। प्यारे, जीवन में दुःख की मात्रा बढ़ जाने पर निवृत्ति सुगम है और सुख की मात्रा बढ़ जाने पर प्रवृत्ति सुगम है। श्रेष्ठता का कथन अधिकारी के प्रति होता है। वास्तव में तो पूर्णता सभी की श्रेष्ठ है।

क्या व्यक्ति भाव से उपासना करने में कोई हानि है ?

गहराई से देखो, उपासना करने की आवश्यकता क्यों हुई ? जब उपासक अपने में असमर्थता पाता है, तब वह पूर्ण समर्थ की उपासना करने के लिए रुचि होती है। जब ज्ञान की कमी पाता है तब अनन्त ज्ञान की उपासना की रुचि होती है, अथवा यों कहो कि जिन-जिन गुणों की आवश्यकता होती है, उन्हीं गुणों को पूर्ण करने के लिए सर्वगुण-सम्पन्न उपास्य की खोज होती है। उपासना अपनी रुचि की होती है, व्यक्ति की नहीं। व्यक्ति द्वारा उपासना करने का अर्थ यही होता है कि अपने व्यक्तित्व को जीवित रखने का लालच है अथवा यों कहो कि अपने व्यक्तितत्व की रक्षा करने के लिए सर्वोत्कृष्ट तत्व में भी व्यक्तितत्व-भाव मान लेते हैं। वास्तविक उपासना की पूर्णता तब होती है जब अपने व्यक्तितत्व को मिटा दिया जाय। उपासना पूर्ण होने पर व्यक्तितत्व शेष नहीं रहता। यदि व्यक्तितत्व शेष रहे तो उपासना से लाभ ही क्या ? क्योंकि व्यक्तितत्व तो था ही। उपासना तो उसकी करनी है जो सब प्रकार से समर्थ और दयालु हो। कोई भी व्यक्ति सब प्रकार से समर्थ तथा परम दयालु नहीं हो सकता। गहराई से देखो, कोई भी राजा 'राजा' नहीं बना पाता, परन्तु जो व्यक्तितत्व से परे हैं, वे सबको अपने से अभिन्न कर लेते हैं। वे इन्कार करना नहीं

जानते, क्योंकि सब प्रकार से समर्थ हैं। अतः उन्हीं की उपासना करनी चाहिये जो व्यक्ति-भाव से अतीत हैं। प्यारे, उपास्य में में व्यक्ति-भाव स्वीकार करना परम भूल है। उपास्य के नाम रूप की कल्पना तो केवल शार्टहैन्ड के चिन्ह के समान है। विचारशील उपासक नाम-रूप में भी व्यक्ति-भाव नहीं देखते।

सच्ची दीक्षा क्या है ? जो सब प्रकार समर्थ तथा परम दयालु हैं, उनसे सद्भावपूर्वक सम्बन्ध स्थापित करना ही सच्ची दीक्षा है। वही ज्ञान की आवश्यकता के लिये गुरु-भाव से प्रकट होते हैं।

गुरु क्या करता है और शिष्य क्या करता है ? शिष्य प्यार करता है और गुरु प्रेम करता है। प्यार और प्रेम में यही अन्तर है कि प्यार दूसरे से और प्रेम अपने से होता है। गुरु की दृष्टि में शिष्य की सत्ता अपने से भिन्न नहीं होती अतः वह प्रेम करता है। अपना सब कुछ दे देना प्यार और अपने को दे देना प्रेम है। अतः शिष्य गुरु के प्रेम से गुरु हो जाता है। कामना-युक्त व्यक्ति प्रेम नहीं कर सकता। शिष्य कामना-युक्त होता है, गुरु कामना रहित होता है। कामना रहित व्यक्ति नहीं होता, अतः गुरु में भूलकर भी व्यक्ति-भाव नहीं करना चाहिये।



२५ मार्च १९४१

आप्तकाम किसको कहते हैं ? जो पूर्णतः चाह-रहित हों। जो भोग और मोक्ष दोनों की कामना से रहित हों, वे आप्तकाम होते हैं।

आत्मवित् किस प्रकार हो सकता है ?	जब तक माना हुआ सीमित अहंभाव जीवित है, तब तक आत्मवित् नहीं हो सकता । अतः सीमित अहंभाव का अन्त करने पर ही आत्मवित् हो सकता है ।
अज्ञान क्या है ?	मानी हुई सत्ता की स्वीकृति ही अज्ञान है ।
ज्ञान क्या है ?	मानी हुई सत्ता का अभाव होने पर जो शेष रहता है वही तत्व-ज्ञान है ।
विज्ञान क्या है ?	तत्वज्ञानपूर्वक निष्ठा ही विज्ञान है ।
मोक्ष क्या है ?	मानी हुई सत्ता का शासन स्वीकार करना ही बन्धन है । उसके विपरीत मोक्ष है ।
मोक्ष प्राप्ति का साधन क्या है ?	त्याग, क्योंकि त्याग से मानी हुई सत्ता का शासन नहीं रहता ।
कार्य में सफलता कब होती है ?	हृदय और दिमाग की एकता होने पर कार्य में सफलता होती है, क्योंकि कार्य करते हुए सफलता न होने का कारण हृदय और दिमाग की लड़ाई ही है ।
गुरु तत्व क्या है ?	गुरु वह तत्व है जो जिज्ञासु की पूर्ति के लिये अनेक प्रकार से प्रकट होता है । अतः गुरु में शरीर-भाव नहीं रखना चाहिये । जिस

प्रकार निर्गुण ब्रह्मभक्त की रुचि की पूर्ति के लिये लीला-मात्र सगुण विग्रह स्वीकार कर लेता है उसी प्रकार गुरु-तत्व जिज्ञासु की पूर्ति के लिये लीला-मात्र शरीर-भाव धारण कर लेता है । वास्तव में तो गुरु-तत्व तथा पूर्ण ब्रह्म सच्चिदानन्दघन में लेश-मात्र भी भेद नहीं है ।

ध्यान कैसे करना चाहिये ?	ध्यान किया नहीं जाता बल्कि हो जाता है, क्योंकि जिसका ज्ञान नहीं होता उसका ध्यान

भी नहीं हो सकता। अतः उसकी खोज करो जिसका ध्यान करना है। उसकी खोज करने के लिए ध्यान-कर्त्ता को उन सभी वस्तुओं का त्याग करना होगा जिनके बिना वह किसी प्रकार भी रह सकता है। जिसके बिना किसी प्रकार नहीं रह सकता उसका ज्ञान होते ही ध्यान अपने आप हो जायगा।

आत्म-हनन क्या है? अपने को शरीर-भाव आदि कल्पनाओं में बाँध लेना ही आत्म-हनन है, अथवा यों कहो कि अपने को जिस कल्पना में बाँध लिया हो उसके विपरीत क्रिया करना ही व्यावहारिक आत्म-हनन है। प्रथम आत्म-हनन तत्व-दृष्टि से है और दूसरा व्यवहार-दृष्टि से।

—*—

२६ मार्च १९४१

सन्त-वाणी

विषयों का रस तीन प्रकार का है—

(१) इन्द्रिय-जन्य—इसमें परतन्त्रता सबसे अधिक और स्थिरता सबसे कम है।

(२) भाव-जन्य—यह यद्यपि इन्द्रिय-जन्य रस की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र है तथा उससे स्थायी भी अधिक है, किन्तु भावावेश के कारण समाधि-जन्य रस से कम है।

(३) समाधि-जन्य—यह भाव-जन्य रस की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र है, क्योंकि समाधि में अनेक भाव एक ही भाव में विलीन हो जाते हैं, परन्तु समाधि-जन्य रस का भी उत्थान होता है। अतः वह भी नित्य-रस नहीं है। सविकल्प समाधि में बुद्धि कार्य में सम होती है और

निर्विकल्प समाधि में कारण में। कारण कार्य की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र है। इसी कारण निर्विकल्प समाधि में सविकल्प समाधि की अपेक्षा अधिक रस है। अनित्य रसों में निर्विकल्प समाधि का रस सर्वश्रेष्ठ है, परन्तु जिज्ञासु को तो सभी अनित्य रसों का त्याग करना है। अनित्य रसों का त्याग करना ही विषय-विराग तथा पूर्ण जिज्ञासा है। पूर्ण जिज्ञासा होने पर तत्व-ज्ञान स्वयं हो जाता है। तत्व-ज्ञानपूर्वक तत्व-निष्ठा होने पर शक्ति तथा शान्ति प्राप्त होती है। ज्ञान-रहित निष्ठा अर्थात् केवल समाधि से तो सिर्फ शक्ति आती है। फिर यदि शक्ति का सदुपयोग नहीं किया जाय, तो वह मिट जाती है। शक्ति का सदुपयोग करने के लिए हृदय की निर्मलता परम आवश्यक है, जो केवल विषय-विराग से ही हो सकती है।

साधन की प्रारंभिक अवस्था में किन २ गुणों की आवश्यकता है ?

साधक को चाहिये कि वह अपनी सभी आवश्यक प्रवृत्तियों में, जिनका कि वह त्याग नहीं कर सकता तथा जिन-जिन में उसको प्रवृत्त होना हो, पूर्ति के भाव से प्रवृत्त हो, अपनी पूर्ति के लिए नहीं, अर्थात् भोक्ता उन्नति तब कर सकता है, जब वह अपना मूल्य भोग से अधिक बना ले। भोक्ता को यह भली प्रकार समझ लेना चाहिए कि भोग का सौन्दर्य भी भोक्ता के बिना कुछ मूल्य नहीं रखता। आदर्श भोक्ता वही है जिसकी भोग प्रतीक्षा करता है। भोग की प्रतीक्षा करने वाला भोक्ता तो बीमार है, अतः वह बेचारा भोग करने में असमर्थ है, उसका तो भोग ही भोग कर लेते हैं।

साधक को आगे पीछे का व्यर्थ-चिंतन क्यों होता है ? कार्य-कुशलता न होने से तथा आस्तिकता की कमी से आगे-पीछे का व्यर्थ-चिंतन होता है ।

कार्यकुशलता क्या है ? (१) जिस कार्य में प्रवृत्त हो उसको इतनी सुन्दरतापूर्वक करना चाहिये कि वह कार्य स्वयं कार्य-कर्त्ता की प्रतीक्षा करे, अर्थात् कर्त्ता को करते समय अपनी पूरी शक्ति लगा देनी चाहिये ।

(२) भाव की पवित्रता हो ।

(३) लक्ष्य पर दृष्टि हो ।

इन तीनों बातों के होने पर पूर्ण कार्य-कुशलता हो जायगी, क्योंकि ऐसा न होने पर क्रिया, भाव तथा ज्ञान तीनों का उपयोग होगा । ज्ञान से लक्ष्य पर दृष्टि होगी, भाव से पवित्रता होगी और क्रियाशक्ति से कार्य में सुन्दरता होगी । ऐसे कर्त्ता को आगे-पीछे का व्यर्थ चिंतन नहीं होगा ।

आस्तिकता की कमी क्या है ? किसी भी सांसारिक परिस्थिति से प्रसन्नता की आशा करना आस्तिकता की कमी है ।

ईश्वर की सत्ता का अनुभव साधारण मनुष्यों को कैसे हो ? ईश्वर की सत्ता का अनुभव तो ईश्वर-भक्तों को होता है, परन्तु अपनी कमी प्रतीत होने पर अपने से विशेष सत्ता (ईश्वर) की स्वीकृति स्वयं हो जाती है, क्योंकि कमी कोई भी रखना पसन्द नहीं करता । अतः अपनी कमी को मिटाने के लिये ईश्वर की शरण आवश्यक हो जाती है ।

पूर्व जन्म की बात याद न रहने के कारण मनुष्य किस प्रकार यह जाने कि उसकी साधना में विच्छेद कहाँ हुआ था ?

यदि पूर्व जन्म की स्मृति रहे तो उन्नति करने में विघ्न होगा। अतः विस्मृति भगवत्-कृपा है, क्योंकि आवश्यक है। वर्तमान जीवन ही पूर्व जीवन का फलस्वरूप है। फल के प्राप्त होने पर वृक्ष को जानने की आवश्यकता नहीं रहती। अतः वर्तमान जीवन का भले प्रकार निरीक्षण करो। कमी अनुभूति अपने आप हो जायगी।

भगवान् जो कुछ हमारे लिये करता है वही सर्वोत्तम है -यह भाव स्थायी कैसे रहे ?

जीवन की प्रत्येक क्रिया राग-द्वेष की निवृत्ति के लिये स्वाभाविक होती है, परन्तु उन पर विचार न करने से हम यह समझ नहीं पाते। भगवान् दुःख तथा सुख के स्वरूप में प्रकट होकर राग-द्वेष मिटाने की योग्यता प्रदान करते हैं। जीवन सुख, दुःख से भिन्न कुछ नहीं-यह सभी मानते हैं। भगवद्भक्त होने पर तो प्रश्नकर्त्ता का यह भाव स्वयं दृढ़ हो जाता है, भाव की कमी सिर्फ इसीलिये शेष है कि ' मैं भक्त हूँ' यह भाव पूर्ण नहीं हुआ। भगवान् सब कुछ करते हैं, यह पूर्ण भक्त की निष्ठा है, क्योंकि भक्त होने पर ' मैं कर्त्ता हूँ' यह भाव मिट जाता है। इस भाव के मिटते ही प्रेम-पात्र की ओर से होने वाली सभी क्रियाएँ कल्याणकारक प्रतीत होती हैं। अतः सब प्रकार से उनका हो जाने पर यह भाव स्वाभाविक दृढ़ हो जायगा कि भगवान् जो करते हैं वही सर्वोत्तम है।

गलत व्यवहार क्यों होता है ?

जिस प्रकार अपने में शरीर-भाव धारण करने पर गलत ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार कर्त्ता ने अपने को जिस कल्पना में बाँध लिया है;उस कल्पना के

भूलने पर गलत व्यवहार हो जाता है, क्योंकि कर्त्ता के बदलने पर क्रिया बदलती है।

—※—

२७ मार्च १९४१

हम साधारण मनुष्यों के लिए भगवत्-प्राप्ति का सुगम उपाय क्या है ?

जिस प्रकार भोगों का अभिलाषी पूजा पाठ करते हुए भी उस पूजा का अर्थ भोग-प्राप्ति रखता है, क्योंकि उसकी निष्ठा भोग में होती है और क्रिया पूजा की होती है, उसी प्रकार भगवत्-प्राप्ति के अभिलाषी के लिए सारी आवश्यक क्रियाओं को करते हुए यदि उसकी निष्ठा भगवत्-प्राप्ति में हो तो फिर उसकी अनेक क्रियाओं का भी एक ही अर्थ हो जायगा, अर्थात् उसकी सभी क्रियायें भगवत्-प्राप्ति के भाव में विलीन जायेंगी। इस भाव की पूर्णता होने पर यह ज्ञान में विलीन होगा, अर्थात् उसे भगवत्-प्राप्ति हो जायगी। अतः जीवन में एकनिष्ठता होनी चाहिए।

उपासना साकार की की जाय अथवा निराकार की ?

उपासना करने से पहिले उपासक को यह भली प्रकार जान लेना चाहिये कि वह अपने को निराकार मानता है अथवा साकार, क्योंकि साकार मानकर निराकार की उपासना नहीं कर सकता और निराकार मानकर साकार की उपासना नहीं कर सकता। उपासना तो वास्तव में साकार तथा सगुण की ही होती है, क्योंकि जिसको इन्द्रियों की अपेक्षा निराकार कहते हो वह बुद्धि की अपेक्षा साकार है। यह उपासक की रुचि है कि वह चाहे किसी साकार प्रतीक में अनन्त गुणों का अनुभव करे अथवा निराकार में, अथवा अपने में। इन तीनों प्रकार की

उपसनाओं का फल उपासना के पूर्ण होने पर एक हो जाता है। उपासना का अर्थ ही यह है कि अपने माने हुए स्वभाव को उपास्य के समर्पण कर दे, अथवा यों कहो कि वास्तविक रुचि का स्थायी कर पूर्ण कर ले। रुचि का स्थायी कर लेना उपासना का आरम्भ है और रुचि का पूर्ण होना उपासना का अन्त है, क्योंकि रुचि की पूर्ति के लिये ही उपासना की आवश्यकता होती है।

अद्वैत तत्व की उपासना कैसे हो ? अद्वैत तत्व तो उपासना का फल है। क्रिया फल की अप्राप्ति में होती है, प्राप्ति में नहीं।

निर्गुण तत्व की तीव्र अभिलाषा होने पर अभेद भाव की उपासना आरम्भ होती है। वही अन्त में अद्वैत-तत्व में विलीन हो जाती है अर्थात् तत्व-ज्ञान हो जाता है।

सत्य का वास्तविक स्वरूप क्या है ? सत्य का अनुभव करने के लिये अपने माने हुए स्वभाव (असत्य) को मिटाना होगा।

साधारण मानव अपने स्वभाव के अनुसार ही सत्य का कथन करते हैं, जिस प्रकार पृथ्वी में मिर्च को चरपराहट और गन्ने को मिठास दिखाई देती है। वास्तव में तो पृथ्वी में अनन्त गुण हैं और वह गुणों से अतीत भी है। यदि मिर्च अथवा गन्ना पृथ्वी के वास्तविक तत्व को जानना चाहें तो उन्हें अपने स्वीकृत स्वभाव को मिटाना होगा। अतः सत्य होकर ही सत्य को जान सकोगे। सत्य के विषय में कथन करना अपने माने हुए स्वभाव का परिचय देने के सिवाय कुछ अर्थ नहीं रखता, क्योंकि कथन करने की सत्ता सीमित है और सत्य असीम है। 'असीम' शब्द सत्य का कथन नहीं है, बल्कि संकेत है।

गुरु करना चाहिए या नहीं ? यदि गुरु होना चाहते हो तो गुरु करना चाहिए, क्योंकि गुरु होने के लिए गुरु की आवश्यकता होती है, शिष्य होने के लिए नहीं। जब तक गुरु नहीं हो, तब तक शिष्य तो हो ही ।

परमात्मा के न मानने से क्या हानि है ? परमात्मा का मानना अथवा न मानना एक ही अर्थ रखता है, जब तक कि परमात्मा को जाना न जाय। अतः परमात्मा को जानना चाहिये। मानना तो जानने का एक साधन मात्र है। साधन साध्य की अनुभूति में विलीन हो जाता है। अतः न मानने से साधन में कठिनता होगी । यद्यपि सत्य माना नहीं जाता, बल्कि उसकी स्वाभाविक स्वीकृति होती है, परन्तु साधारण व्यक्ति स्वाभाविक स्वीकृति का निराकरण नहीं कर पाते। इसलिए जो निराकरण नहीं कर पाते उनको मानना अनिवार्य है, क्योंकि मानने के आधार पर साधन का आरम्भ होगा और फिर साधन से विचार उदय होगा, जो निराकरण करने में समर्थ होगा।

जिस प्रकार विषयों में मन लगता है वैसा ईश्वर में मन क्यों नहीं लगता ? जैसा विषयों में मन लगता है, वैसा ईश्वर में मन इसलिए नहीं लगता कि दुःख की कमी है। प्रत्येक प्रवृत्ति में सुख तथा दुःख का रस आता है। जिस प्रवृत्ति में सुख से दुःख अधिक बढ़ जाता है, वह प्रवृत्ति स्वयं मिट जाती है। यदि ईश्वर में अपने को लगाना चाहते हो तो दुःख की कमी को पूरा करो। यदि दुःख की कमी को पूरा करना चाहते हो' तो दुखियों की पूजा करो। जब तुम दुखियों का दुःख दूर करोगे, तब तुम्हारा ईश्वर से जातीय सम्बन्ध होगा, क्योंकि

वे दुःखहारी हैं । जातीय सम्बन्ध होने पर एकता अवश्य होती है, यह सभी जानते हैं ।

हम कर्तव्य और अकर्तव्य को किस प्रकार जानें ? जो कर्त्तव्य आपको सीमित से हटाकर असीम की ओर ले जाय, अर्थात् महान् बनाने में समर्थ हो वही कर्तव्य है और जो सीमित बनाये वही अकर्त्तव्य है ।

आस्तिकता का उदय कब होता है ? जब क्रिया-जन्य रस अर्थात् केवल कर्म से पूर्ति नहीं होती, तब पूर्णता के अभिलाषी के हृदय में कर्म से अतीत पूर्ण सत्ता की स्वीकृति स्वाभाविक उदय होती है, क्योंकि कर्म बेचारा भोग से भिन्न कुछ नहीं दे पाता ।

सबसे अधिक किसकी सेवा का फल होता है ? सबसे अधिक फल उसकी सेवा से होता है, जिसका जीवन क्रिया-जन्य रस से ऊपर हो चुका है, क्योंकि वही पूर्ण हो सकता है, जो पूर्ण विरक्त होता है और वही परमतत्व में अनुरक्त होता है । अतः उसकी सेवा की प्रतिक्रिया अर्थात् फल 'पूर्ण' की ओर से मिलता है ।

भगवान् कब आते हैं ? भगवान् तब आते हैं जब हम अपने को बिल्कुल खाली कर लेते हैं, क्योंकि वे तब तक किसी प्रकार नहीं आ सकते, जब तक हम अपने में उनके सिवाय किसी और के लिए स्थान रखते हैं ।

—※—

सन्त-वाणी

करने की अपेक्षा कुछ न करना और गलत करने की अपेक्षा सही करना अधिक महत्व रखता है ।

क्रिया, भाव, ज्ञान तीनों को समर्पण करने पर वे शीघ्र ही आ जायँगे। हम एक-एक अर्पण करते हैं तभी नहीं आते ।

२८ मार्च १९४१

अभिमान आदि मानसिक विकारों का अन्त किस प्रकार हो ?

जीवन ज्ञान, भाव और क्रिया तीनों से मिला हुआ है; अतः इन तीनों का सदुपयोग करो। ज्ञानसक्ति से यह अनुभव करो कि 'मैं ईश्वर नहीं हूँ' । भावशक्ति से यह धारण करो कि मेरे जीवन से किसी को दुःख न हो, अर्थात् हृदय में किसी को दुःख देने का भाव उत्पन्न मत होने दो। क्रियाशक्ति से दूसरों की सेवा करो, किन्तु यह समझ कर करो कि जिनकी सेवा कर रहा हूँ उनकी कृपा से मेरा कल्याण होगा । यह उनकी कृपा है कि उन्होंने मुझे सेवा करने का अवसर दिया। ऐसा करने से क्रिया-जन्य रस नहीं होगा, बल्कि क्रिया भाव में विलीन हो जायगी और भाव की पूर्णता होने पर भाव ज्ञान-तत्व में विलीन होगा। अतः सब विकार मिट जायेंगे और पूर्ण तत्व का अनुभव होगा। यह भली प्रकार समझ लो कि कुल विकारों का अन्त एक साथ होता है। पूर्ण क्रिया, पूर्ण भाव और पूर्ण ज्ञान होने पर ही विकारों का अन्त हो सकता है। केवल क्रिया विकारों का अन्त करने में असमर्थ है। केवल भाव भी अन्त नहीं कर सकता। क्रिया और भाव-जन्य रस की आसक्ति मिटने पर ही ज्ञान होता है। यथार्थ ज्ञान होने पर ही कुल विकार मिट सकेंगे। क्रिया और भाव के बदलने से विकारों की कमी होती है अन्त नहीं होता । साधारण मानव विकारों की कमी को विकारों का अन्त मान लेते हैं, इसीलिये क्रिया को भाव में और

भाव को ज्ञान में विलीन नहीं कर पाते, वल्कि क्रिया-जन्य रस तथा भाव-जन्य रस में आसक्त हो जाते हैं । अतः इसी कारण बार-बार विकार उत्पन्न होते हैं । पूर्ण तत्व का बिना अनुभव किये विकारों का अन्त नहीं हो सकता ।

तीर्थों से क्या लाभ है और उनमें जाकर कैसा भाव रखना चाहिये ?

जो प्राणी अपने को केवल स्थूल शरीर मानते हैं, अर्थात् शरीर को ही अपना आप जानते हैं उनके लिये तीर्थ सब से प्रथम साधन हैं, क्योंकि वहाँ जाने पर दान स्नान आदि का करना अनिवार्य हो जाता है । तीर्थों में लोकान्तर का भाव रखना चाहिये, ऐसा करने से लाभ अवश्य होगा ।

भगवान् क्या है और उनका वास्तविक स्वरूप कैसा है ?

भगवान् क्या हैं ? यह तो भगवान् होकर ही जान सकोगे, क्योंकि सत्य का अनुभव सत्य होकर ही होता है । गहराई से देखो कि आपकी वास्तविक रुचि क्या है ? यदि आप अपनी वास्तविक रुचि की पूर्ति के लिए समथ हैं, तब तो कोई प्रश्न ही नहीं होता, क्योंकि प्रश्न आवश्यकता होने पर होता है । यदि संसार आपकी पूर्ति में समर्थ है, तब भी प्रश्न नहीं होता, परन्तु आपका प्रश्न यह स्वयं प्रगट करता है कि मुझे अपनी रुचि की पूर्ति के लिये, अर्थात् अपनी पूर्णता के लिए किसी पूर्ण तत्व की आवश्यकता है, अर्थात् भगवान् सब प्रकार से पूर्ण हैं । यदि उनके वास्तविक स्वरूप को जानना चाहते हो तो अपने माने हुए स्वभाव को मिटा दो, अर्थात् अपने आप को खाली कर लो । खाली होते ही भगवान् आ जायँगे, तब आप उनके स्वरूप का अनुभव कर सकोगे । भगवान् के वास्तविक स्वरूप का अनुभव करने के लिये आप को अपने

सिवाय और किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं है, यहाँ तक कि इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि को भी छोड़ना होगा। जब आप अकेले हो जायँगे तब भगवान् की कृपा से ही भगवान् को जान लेंगे। प्यारे, कोई भी प्रेमी अपने प्रेम-पात्र से किसी के सामने नहीं मिलता, तो फिर जब तक आप शरीर आदि अनेक सम्बन्धियों को साथ लिए हुए हैं, आपका प्रेम-पात्र आपसे कैसे मिल सकता है ? भगावान् कैसे हैं ? यदि यह जानना चाहते हो तो अकेले हो जाओ।

बंधन कैसे हुआ ? यदि वर्तमान में बन्धन प्रतीत होता है, तो बन्धनकाल में बन्धन के कारण को नहीं जान सकोगे, क्योंकि कार्य का अन्त होने पर कारण का ज्ञान होता है। अतः मुक्त होने पर बन्धन का ज्ञान होगा।

क्या श्राद्ध जिसके लिए किया जाता है उसको मिलता है ? गहराई से देखो प्रत्येक कर्म के दो स्वरूप होते हैं एक दृष्ट और दूसरा अदृष्ट। श्राद्ध-कर्त्ता का संकल्प श्राद्ध का अदृष्ट स्वरूप है। वह संकल्प ईश्वर द्वारा पूर्ण होता है। जिस प्रकार पोस्ट आफिस द्वारा भेजा हुआ मनी-आर्डर गवर्नमेन्ट की सत्ता के द्वारा जिसको भेजा जाता है, उसको मिलता है, यद्यपि भेजने वाले की दृष्टि से वह दूर है, परन्तु गवर्नमेन्ट की दृष्टि में गवर्नमेन्ट के शासन के अन्तर्गत है, उसी प्रकार श्राद्ध-कर्त्ता की दृष्टि में, जिसका वह श्राद्ध करता है, वह दूर है, किन्तु ईश्वर की दृष्टि में दूर नहीं है। प्रत्येक संकल्प ईश्वर के द्वारा फल देता है।

हम कैसे जानें कि ईश्वर है ? क्या आपने ईश्वर को जानने के लिए जो आप कर सकते थे वह कर लिया है ? यदि

नहीं किया तो कर डालो। क्या आप ईश्वर को किसी और की सहायता से जान सके हो? यदि नहीं जान सके हो तो दूसरों की सहायता लेना छोड़ दो। जब आप दूसरों की सहायता लेना छोड़ दोगे, अथवा जो कर सकते हो कर डालोगे, अथवा ईश्वर की ही मर्जी पर छोड़ दोगे, तब 'ईश्वर है' यह स्वयं अनुभव हो हो जायगा।

हम कैसे जानें कि जो कर सकते हैं वह कर लिया?

यदि कुछ भी करने का भाव शेष है, तो वह अभी नहीं किया, जो कर सकते हो, क्योंकि क्रिया से भिन्न कर्त्ता का स्वरूप कुछ नहीं है। क्रिया के पूर्ण होने पर कर्त्ता का अन्त हो जाता है। कर्त्ता का अन्त होते ही भोगत्व मिट जाता है। यह नियम है कि भोग का अन्त होने पर योग अपने आप हो जाता है। भोग ने ईश्वर से वियोग किया है, अतः भोग का अन्त करने पर ईश्वर का अनुभव होगा।

दूसरों की सहायता छोड़ने का अर्थ क्या है?

सभी संगठन विषयों की प्राप्ति के लिए आवश्यक हैं। यदि ईश्वर को जानना चाहते हो, तो अपने बनाये हुए संगठन का अन्त कर दो, अर्थात् किसी और की सहायता की आशा मत करो। सभी से निराश होने पर ईश्वर का अनुभव होगा, क्योंकि ईश्वर से भिन्न वस्तुओं की आशा सिर्फ विषयों के लिए की जाती है। यहाँ तक कि बुद्धि आदि भी विषय प्राप्ति ही में समर्थ होते हैं।

ईश्वर की मर्जी पर छोड़ देने का क्या अर्थ है?

जब हमारी आवश्यकता की पूर्ति संसार नहीं कर सकता, तब संसार से अरुचि हो जाती है और जब हम स्वयं नहीं कर सकते, तब

अपने से अरुचि हो जाती है। बस उसी काल में व्याकुलता पूर्वक समर्पण करने का भाव उत्पन्न होता है। समर्पण की पूर्णता होने पर ईश्वर का अनुभव हो जाता है। गहराई से देखो, संसार से निराश होने पर संसार की चाह नहीं रहती, अर्थात् बिषयों का चिन्तन नहीं होता और अपने से निराश होने पर करने का भाव नहीं रहता, अर्थात् ईश्वर का चिन्तन नहीं रहता और अचिन्तता आ जाती है, जो ईश्वर का अनुभव कराने में समर्थ है।

आत्म-साक्षात्कार क्या है ? सभी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाना अर्थात् किसी प्रकार की आवश्यकता शेष न रहे। आत्म-साक्षात्कार होने से पूर्व यदि यह बंधन है, तो वह मुक्ति है, यदि यह दुःख है, तो आनन्द है, यदि यह सीमित है, तो वह असीम है, यदि यह जड़ है तो वह चेतन है और यदि यह मृत्यु है तो वह अमरत्व है।

आत्म साक्षात्कार का साधन क्या है ? यदि आत्म-साक्षात्कार करना चाहते हो तो अपने में से विचारपूर्वक सभी मानी हुई सत्ताओं को निकाल दो।

—*—

सन्त-वाणी

सुख से दुःख दब जाता है और आनन्द से मिट जाता है। आनन्द इच्छाओं की निवृत्ति होने पर और सुख इच्छाओं की पूर्ति होने पर होता है। इच्छाओं की पूर्ति के लिये परतंत्रता है, क्योंकि उसके लिये संगठन की आवश्यकता होती है। इच्छाओं की निवृत्ति के लिये स्वतंत्रता है, क्योंकि वह निवृत्ति त्याग से

होती है। मन के इधर-उधर जाने का कारण राग-द्वेष है। जिनसे द्वेष है, उनसे प्रेम करो, जिनसे राग है उनका त्याग करो। ऐसा करने से मन शान्त हो जायगा।

आस्तिकता की योग्यता उसी मानव को होती है, जिसको संसार की कोई भी परिस्थिति शान्ति नहीं दे पाती, अर्थात् विषयों के सभी रस नीरस हो जाने पर आस्तिकता का रस आता है।

जिसकी अस्ति हर काल में है, उसकी स्वीकृति आस्तिकता है। जिसकी अस्ति हर काल में नहीं, उसकी स्वीकृति नास्तिकता है।

चेतन का अनुभव होने पर चेतन से भिन्न किसी भी सत्ता की प्रतीति शेष नहीं रहती।

ज्ञानयोग में त्यागरूप से क्रिया तथा निष्ठारूप से भाव विद्यमान है।

भक्तियोग में सेवारूप से क्रिया और लक्ष्यरूप से ज्ञान विद्यमान है।

कर्मयोग में स्वार्थ-त्याग-रूप से भाव तथा विश्व के साथ एकतारूप से ज्ञान विद्यमान है।



संसार में जो क्षोभ है उसकी शान्ति का क्या उपाय है ?

जिन साधनों से एक व्यक्ति का क्षोभ मिट सकता है, उन्हीं साधनों से समाज का राष्ट्र का अथवा संसार का क्षोभ मिट सकता है।

क्षोभ का कारण सीमित भाव है। सीमित भाव का अन्त करने पर क्षोभ का अन्त हो जाता है। अतः उन क्रियाओं को करो जो असीम की ओर ले जायँ, अर्थात् विश्व के

साथ एकता करने में समर्थ हों । जब अनेक व्यक्तियों के संकल्प सीमित भाव मिटाने के होंगे तब संसार का क्षोभ मिटाने के लिए भगवत्कृपा से विशेष शक्ति स्वयं उत्पन्न हो जायगी और क्षोभ का अन्त कर देगी, क्योंकि प्रत्येक जीवन कल्पतरु की साया में निवास कर रहा है । यह भली प्रकार समझ लो कि जो वस्तु जितनी अधिक अव्यक्त होती है, उतनी ही अधिक विभु तथा शक्तिशाली होती है । संकल्प शक्ति इन्द्रियों की क्रिया की अपेक्षा अधिक अव्यक्त है, जब संकल्प के अनुसार निष्ठा हो जाती है, तब सफलता अवश्य होती है ।

दुष्टों का दमन कैसे हो ? दुष्टों का आक्रमण निर्बल पर होता है । यदि उनका दमन करना चाहते हो, तो सबल (आत्मिक, सामाजिक और शारीरिक बल सम्पन्न) बनो । सामाजिक बल से शारीरिक बल पर विजय प्राप्त कर सकते हो और आत्मिक बल से सामाजिक बल पर विजय प्राप्त कर सकते हो । सज्जनता बढ़ा लेने पर ही दुर्जनता का अन्त कर सकते हो । दुर्जनता से दुर्जनता किसी प्रकार भी मिटायी नहीं जा सकती ।

—*—

३० मार्च १९४१

यदि आत्मा अविनाशी है और शरीर जड़ है तो फिर मार डालने से क्या पाप है ? गहराई से देखो, जिन वासनाओं की पूर्ति के लिए उस बेचारे को प्रकृति माता से जो क्षेत्र मिला है, उसके तोड़ देने पर उसकी पूर्ति में विघ्न होगा, इसलिए हिंसा है और मारने वाले का भाव कठोर होगा । उसके मन पर मारने का संकल्प अंकित हो जायगा, इसलिए वह अपने को अपने संकल्प से बचा नहीं सकेगा, अर्थात् वह

संकल्प उसकेजीवन का स्वरूप हो जायगा, जिससे वह स्वयं अपनी उन्नति में बाधक होगा। मारने वाले की हानि मरने वाले से कहीं अधिक होगी। इसी कारण अहिंसा व्रत सर्वोत्तम व्रत है।

अहिंसा क्या है ? जिसकी प्रसन्नता किसी भी वस्तु के आधार पर जीवित है वह अहिंसा व्रत का पालन नहीं कर सकता, क्योंकि किसी भी वस्तु की आशा करने पर किसी को दुःख अवश्य होगा। क्योंकि कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिस पर किसी न किसी का अधिकार न हो, अर्थात् किसी न किसी का अवश्य होता है। किसी भी वस्तु के आधार पर प्रसन्नता न करना ही पूर्ण अहिंसा है।

—*—

सन्त-वाणी

'करना' से 'होना' और 'होना' से 'रहना' अधिक प्रिय है, क्योंकि 'करने' की अपेक्षा 'होना' और 'होने की अपेक्षा 'रहना' अधिक स्वाभाविक है। 'करने' में क्रियाशक्ति की प्रधानता है, 'होने' में भाव की तथा 'रहने' में ज्ञान की प्रधानता है। जो 'होना' चाहिए उसे 'करना' इसलिए पड़ता है कि उसका अधिकार प्राप्त नहीं किया, क्योंकि वह नहीं किया गया जो 'होने' से पूर्व करना चाहिए था। यह नियम है कि जो 'करना' चाहिए वह करते ही जो 'होना' चाहिए अपने आप होता है। जो 'होना' चाहिए उसके होने से जो 'रहना' चाहिए वह रह जाता है अर्थात् 'करना' 'होने' में और 'होना' 'रहने' "(है)" में विलीन होता है।

शुभ कर्म इसलिए नहीं होता कि उससे पूर्व अशुभ कर्म का त्याग नहीं किया । व्याकुलतापूर्वक प्रेम-पात्र का स्मरण इसलिए नहीं होता कि उससे पूर्व कर्म से उत्पन्न होने वाले रस का त्याग नहीं किया । ध्यान इसलिए नहीं होता कि उससे पूर्व व्याकुलता-पूर्वक स्मरण नहीं किया । समाधि इसलिए नहीं होती कि उससे पूर्व लगातार ध्यान नहीं किया । बोध इसलिए नहीं होता कि उससे पूर्व समाधि-रस का त्याग नहीं किया ।

किसी को सुख क्यों देना चाहिए ? यदि किसी से सुख लिया है, तो तुम उसके ऋणी हो, अतः दूसरों को सुख देना अनिवार्य है । जिसने सुख दिया है, उसने सुख देना सिखाया है । सुखदाता को सुख दे नहीं सकते, अतः दुखियों को सुख देना ही सुखदाता के ऋण से छूट जाना है ।

ईश्वर या गुरु को सुख कैसे दें ? उससे अभिन्न होना ही उसकी सेवा है, अथवा उसके नाते से दुखियों की सेवा करना उसकी सेवा है । वास्तव में तो गुरुतत्व अथवा ईश्वर-तत्व सब प्रकार से पूर्ण है । उनके शरणापन्न हो जाना अर्थात् अपने आपको खो देना ही उनकी सेवा है । गुरु के दिये हुए 'गुर' को जीवन का स्वरूप बना लेना परम गुरु-भक्ति है । गुरु के बताये हुए लक्ष्य से भ्रष्ट न होना ही गुरु-दक्षिणा है ।

स्मरण चिन्तन, ध्यान आदि में क्या भेद है ? जप में क्रिया की प्रधानता है, भाव लेश-मात्र है । स्मरण क्रिया और भाव समान हैं । चिन्तन में क्रिया की कमी तथा भाव

की प्रबलता है । ध्यान में केवल भाव है । समाधि में अनेक भाव एक भाव में विलीन हो जाते हैं ।

सदाचार क्या है ? सदाचार वही है कि जिसके करने से भय रहित स्थायी शान्ति प्राप्त हो और किसी का अहित न हो तथा जिसके करने में कर्त्ता सदैव स्वतन्त्र है ।

सचाई की ओर जाना बड़ा कठिन मालूम होता है ? गहराई से देखो, सचाई कठिन नहीं होती । यदि कठिन प्रतीत होती है, तो समझ लो बुद्धि का प्रमाद है । जिसकी अधिक सचाई है, उतनी ही अधिक सुलभ है । झुठाई की ओर जाना वास्तव में कठिन है, क्योंकि अस्वाभाविक है, सीख कर जाना होता है । सचाई से जातीय सम्बन्ध है । झुठाई की आसक्ति के कारण सचाई की चाह नहीं होती । चाह होने पर तो सभी कठिन मालूम होते हैं । कठिन तो वह है कि चाह हो और न कर सकें । सचाई की चाह होने पर सचाई की ओर जाने के लिए सचाई के अभिलाषी को अपने सिवाय किसी और की आवश्यकता नहीं होती । प्यारे, झुठाई से विमुख होते ही सचाई स्वयं अपना लेती है । अतः सचाई से मत डरो, क्योंकि वह अत्यन्त सुगम तथा स्वाधीन है । चाह होते हुए यदि सचाई कठिन मालूम पड़े तो समझ लो कि उसमें झुठाई अवश्य है । क्योंकि सचाई और कठिन ! ऐसा कैसे हो सकता है ? अर्थात् सचाई कठिन नहीं हो सकती । या तो चाहते नहीं या झुठाई है । सचाई आकर जाती नहीं, जब आती है तब पूर्ण आती है । सचाई के टुकड़े नहीं हो सकते । सचाई के आने पर कमी शेष नहीं रहती । सचाई जीवन की परम आवश्यक वस्तु है, अतः उसके बिना चैन से रहना

परम भूल है। सचाई कठिन है यह समझना दिमाग का रोग है, और कुछ नहीं। भला किसी को अपनी वास्तविकता की ओर जाना कठिन मालूम होता है ? कदापि नहीं । कठिनाई उसी में होती है जिसको नहीं कर सकते, परन्तु करते हैं,

गहराई से देखो, विषय-प्राप्ति में स्वतंत्र हो अथवा परतंत्र ? विषय स्थायी रहते हैं या चले जाते हैं ? यदि विषयों के प्राप्त करने में परतंत्र हो तो उनका प्राप्त करना कठिन है । जिसका प्राप्त करना कठिन है उसका त्याग अवश्य सुलभ है। प्यारे विषयों का त्याग करते ही सचाई अपने आप आ जाती है । जो त्याग करने वाले का त्याग नहीं करता उसी को सचाई कठिन मालूम होती है । गहराई से देखो, विषय अथवा विषयों के भोगने की शक्ति ये दोनों आपका त्याग निरन्तर कर रहे हैं। आप इनका त्याग नहीं करते, इसी दोष के कारण सचाई कठिन मालूम होती रहती है।

ईश्वर प्राप्ति का सरल उपाय क्या है ? यदि स्वतन्त्रतापूर्वक ईश्वर का अनुभव करना चाहते हो तो 'उनके' बिना चैन से न रहो, अर्थात् विरह उत्पन्न करो । विरही को विरह के सिवाय और किसी साधन की आवश्यकता नहीं होती । जिस प्रकार सूर्य के उदय होते ही अन्धकार का अन्त हो जाता है, इसी प्रकार विरह उत्पन्न होते ही सब प्रकार के दोषों का अन्त हो जाता है । दोषों का अन्त होते ही ईश्वर-प्राप्ति अपने आप हो जाती है। यह भली प्रकार समझ लो कि विरहाग्नि में सभी विकार जल जाते हैं । यह नियम है कि विकारयुक्त जीवन निर्विकार तत्व का अनुभव नहीं कर सकता। अतः शीघ्र से शीघ्र विरह-रूप अग्नि में विकार

जला दो। यदि विरह की पूर्णता का अनुभव करना है तो मछली के जीवन से सीखो। देखो कि वह जल के बिना कैसे रहती है और अन्त में क्या करती है ?

क्या ज्ञान से ईश्वर-प्राप्ति नहीं होती ? ईश्वर तो ईश्वर-भक्तों की वस्तु है।

क्या भक्तों को तत्व-ज्ञान नहीं होता ? भक्तवत्सल भगवान अपने भक्तों में किसी प्रकार की कमी शेष नहीं रहने देते, अतः भगवान के प्रसाद से भक्त को ज्ञान भी हो जाता है। जिस प्रकार चोरी करने वाला दण्ड नहीं चाहता, फिर भी उसे दण्ड मिलता ही है, उसी प्रकार भक्त ज्ञान की इच्छा न भी करे तब भी भगवत्-कृपा से उसे तत्व-ज्ञान होता ही है, क्योंकि तत्व-ज्ञान के बिना पूर्ण भक्ति नहीं होती।

तत्व-ज्ञान तो ईश्वर-प्राप्ति का फल है। साधारण मानव ज्ञान के साधन को ज्ञान मान लेते हैं, यद्यपि ज्ञान का साधन ज्ञान नहीं है। भक्ति तो केवल विरह है, जिसका फल मिलन है। मिलन होने पर किसी प्रकार का भेद नहीं रहता, अर्थात् भक्ति की पूर्णता ही तत्व-ज्ञान है।

ज्ञान का स्वतन्त्र साधन विचार है। तत्व-ज्ञान होने पर तत्व-निष्ठा ही भक्ति है। भक्त को प्रथम भक्ति और फिर तत्व-ज्ञान तथा जिज्ञासु को प्रथम तत्व-ज्ञान और फिर तत्व-निष्ठा होती है।

—※—

सन्त-वाणी

आत्मा परमात्मा का भेद तब तक है, जब तक परमात्मा की अप्राप्ति है। अप्राप्ति तब तक है, जब तक विरह अथवा जिज्ञासा

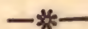
की कमी है । विरह अथवा जिज्ञासा की कमी तब तक है, जब तक अभागे सुख ने अधिकार किया है, अर्थात् दुःख-भगवान् की कृपा नहीं हुई, अथवा यों कहो कि दुखियों का पूजन नहीं किया ।

परमात्मा से भिन्न जो कुछ प्रतीत होता है वह अपूर्ण है । अपूर्ण में ही पूर्ण की अभिलाषा होती है । अभिलाषा की पूर्णता होने पर पूर्ण अपूर्ण अभिन्न हो जाते हैं, अर्थात् अपूर्ण की सत्ता मिट जाती है ।

आत्मा और परमात्मा में भेद कराने वाली केवल अभिलाषा है । अभिलाषा का अन्त होने पर अभेद हो जाता है। अभिलाषा ही जीव का स्वरूप है, अतः अभिलाषा का अन्त होते ही 'जीवत्व' का अन्त हो जाता है, और फिर भेद शेष नहीं रहता ।

तत्व-ज्ञानपूर्वक तत्व-निष्ठा ही जीवन-मुक्ति है। जीवन-मुक्ति जीवन का सर्वोत्तम आदर्श है ।

जिज्ञासा होने पर जिज्ञासा की पूर्ति के साधन बिना बुलाये आ जाते हैं। जिज्ञासा जागृत करो, साधन की चिन्ता मत करो।



३१ मार्च १९४१

सन्त-वाणी

हमारे प्रेम-पात्र को हमारी रुचि का पूर्ण ज्ञान है । यदि उन्हें ज्ञान नहीं तो वे हमारे प्रेम-पात्र हो ही नहीं सकते । सारे संगठनों को छोड़ते हुए हमें उनके समर्पित होना है। कृपया कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों एवं मन बुद्धि आदि सभी सम्बन्धियों से

कह दो कि अब हम अपने प्रेम-पात्र से मिलेंगे। आप लोगों की कृपा से विषयों का यथार्थ अनुभव हो गया। अब हम विषयों से तृप्त हो चुके हैं। कृपया आप भी आराम कीजिये।

प्यारे, करना उसी को पड़ता है, जो औरों से काम लेता है। जो किसी से काम नहीं लेता, उससे भी कोई काम नहीं लेता। जो बुद्धि आदि से काम लेते हैं, उनको ही करने का भूत लगा रहता है। यह सभी जानते हैं कि करना लक्ष्य नहीं है, किन्तु औरों से काम लेते हैं। इस दोष के कारण ही करने का अन्त नहीं कर पाते। करना भोगों की प्राप्ति के लिए होता है, प्रेम-पात्र के मिलन के लिए नहीं। जिस काल में हम सभी को छुट्टी दे देंगे, अर्थात् अकेले हो जायेंगे, उसी काल में हमारे प्रेम-पात्र हमें अवश्य अपना लेंगे, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। इसमें संदेह करना प्रेम-पात्र की सत्ता की अस्वीकृति के सिवाय और कुछ अर्थ नहीं रखता।

वास्तविक रुचि क्या है ?

गहराई से देखो, शांति और शक्ति सभी को स्वाभाविक प्रिय हैं। शांत क्या है ? अपने में कमी का शेष न रहना। शक्ति क्या है ? अनन्त ऐश्वर्य होना। इस रुचि की पूर्ति के लिए बेचारा संसार असमर्थ है। यह रुचि प्रेम-पात्र से छिपी नहीं है। अपने को उनके समर्पित कर देने पर अवश्य मिलेगी। शांति अपने लिए और शक्ति सेवा के लिए होती है। जो कुछ नहीं माँगता उसको दोनों मिलती हैं और जो माँगता है, उसे वे एक देते हैं। कुछ न माँगना अथवा कुछ न करना समर्पण है। केवल शान्ति के पुजारी त्याग-पूर्वक तत्व-ज्ञान से शांति पाते हैं। केवल शक्ति के पुजारी तप,

योग, संयम आदि से शक्ति पाते हैं, परन्तु समर्पित होने पर त्याग तथा तप स्वाभाविक हो जाते हैं । अतः समर्पित होने वाला शक्ति और शान्ति दोनों पाता है ।

सन्त-वाणी

'हम उनके बिना किसी प्रकार भी नहीं रहेंगे' इस भाव के आ जाने पर जिसको चाहते हैं, उनसे मिलने के सभी अधिकारी हो जाते हैं। ऐसे अधिकारी को भूतकाल याद नहीं आता भविष्य की आशा नहीं होती और वर्तमान में कल नहीं पड़ती। ऐसा जीवन होने पर लक्ष्य की पूर्ति स्वयं हो जाती है ।

ऐसा अधिकारी होने के लिए, जीवन में जो सुख की सत्ता है, उसका अन्त कर दो, क्योंकि वह सुख किसी दुःखी का दुःख है। स्वतन्त्रतापूर्वक संसार में सुख नहीं मिलता। किसी का दुःख ही किसी का सुख होता है । उन्नतिशील मानव दूसरों के दुःख से उत्पन्न होने वाला सुख पसन्द नहीं करते, बल्कि दुखियों के दुःख से जीवन भर लेते हैं, अथवा यों कहो कि दुःख की सत्ता का ही अन्त करना चाहते हैं, क्योंकि जब तक कोई भी दुखी प्रतीत होगा, तब तक कभी-कभी उसका दुःख हमारा हो जायगा। इसी भाव से कुल दुःख का अन्तः करने के लिए प्रयत्न करते हैं।

बाह्य साधन न होने पर भी दुखियों के दुःख से दुखी होने वाला एकान्त में बैठा हुआ दुखियों के दुःख का अन्त कर रहा है, क्योंकि इच्छा-शक्ति लीलामय भगवान् की योगमाया है, जो सब कुछ कर सकती है । ऐसे हितैषी को भोला संसार

जान नहीं पाता, किन्तु वह दुखियों के दुःख को जानता है, क्योंकि उसका विश्व-जीवन है, वह सीमित व्यक्ति नहीं है।

संगठन की आवश्यकता सीमित भाव होने पर ही होती है। सचाई की ओर जाने के लिए स्वतन्त्रता है। जिसमें परतन्त्रता प्रतीत हो वह सचाई का मार्ग नहीं है। जिन साधकों में ज्ञान की कमी होती है, उनको इच्छा-शक्ति की आवश्यकता होती है। जिनमें इच्छा-शक्ति की कमी होती है, उनको बाह्य संगठन अथवा इन्द्रिय-जन्य क्रिया की आवश्यकता होती है। इन्द्रिय-जन्य क्रिया की आवश्यकता आस्तिकता की कमी के आधार पर जीवित रहती है। आस्तिकता आ जाने पर तो मनुष्य अपना अथवा संसार का सुधार स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकता है।

—※—

साधक को कैसा भोजन करना चाहिए?

गहराई से देखो, भोजन किस लिए किया जाता है? भूख का दुःख न हो तथा प्राण अर्थात् जीवनशक्ति काम करती रहे, इसलिये भोजन किया जाता है। विवेकी पुरुष तो भोजन नहीं करता, बल्कि प्राण भववान् को आहुति देता है। आहुति ऐसी वस्तुओं की देनी चाहिए, जिनसे जीवनशक्ति दैवी स्वभाव की हो, अर्थात् आसुरी स्वभाव न आने पाये। भोजन का शारीरिक स्वभाव से अभेद सम्बन्ध है। भोजन की सामग्री सत्वप्रधान हो। सवत्प्रधान का अर्थ यह नहीं है कि केवल फल, दूध, आदि हो, बल्कि रोटी, साग, दाल, भात आदि सादा आहार हो और अधिक काल का बना हुआ न हो, जो पचने में भी सुगम हो और प्राण को अधिक काल तक शक्ति भी

दे सके। भोज्य पदार्थों के प्राप्त करने के लिए धन भी सात्विक अर्थात् न्यायपूर्वक उपार्जित हो और भोजन बनाने वाला भी सात्विक स्वभाव का हो अथवा परिवार-सम्बन्धी हो। कुछ महानुभाव जिनसे भोजन बनवाते हैं, उनको (नौकर आदि को) अपने-जैसा भोजन नहीं खिला पाते। भोजन बनाने वाले के मन में भोजन-पान आदि करने का रस प्रायः बना रहता है, किन्तु उसे मिलता है नहीं। अतः उस भोजन में मानसिक दोष आ जाता है। ऐसा भोजन करने से मानसिक अवनति होती है। नौकर से भोजन उनको बनवाना चाहिये, जो अपने समान उसे खिला सकें, नहीं तो अपने घर के ही लोगों से बनवाना चाहिए, जिससे भोजन में मानसिक अपवित्रता न आने पावे। भोजन बनाने के लिए वही उचित होता, जिसका हृदय माता के समान विशाल हो।

आहुति में अभक्ष्य पदार्थ (अण्डा-मांसादि) बिल्कुल नहीं होना चाहिए। उन पदार्थों के सेवन करने से प्राण में शक्ति-हीनता और स्वभाव में असुरता आती है।

प्रत्येक ग्रास देते हुए हृदय में यह भाव हो कि हम प्राण भगवान् को आहुति दे रहे हैं। प्रधानतया पाँच प्रकार का प्राण है। यह भावना दृढ़ करने के लिए भोजन के आरम्भ-काल में, आचमन करने के पश्चात् प्रत्येक प्राण के नाम से, "प्राणाय स्वाहा, व्यानाय स्वाहा, अपानाय स्वाहा, समानाय स्वाहा, उदानाय स्वाहा,"—ऐसा बोल कर सात्विक पदार्थों के पाँच ग्रास आहुति दें। ऐसा प्रतिदिन करने से 'मैं भोजन नहीं करता, बल्कि प्राण को आहुति देता हूँ' यह भावना दृढ़ हो जायगी और भोजन में

आसक्ति नहीं रहेगी । इससे स्वाद-बुद्धि का अन्त हो जायगा और स्वाद का अभाव होने पर वीर्य-रक्षा बड़ी सुगमता से हो जाती है। जो भोजन का संयम नहीं कर सकता, वह वीर्य रक्षा नहीं कर सकता। वीर्य-रक्षा के विना बुद्धि आदि में सात्विकता नहीं आती । अतः साधक को भोजन समझ-बूझ कर करना चाहिए । देखो, एक-एक ज्ञानेन्द्रिय से एक-एक कर्मेन्द्रिय का सम्बन्ध है । जो स्वाद को नहीं जीत पाता, वह उपस्थ को नहीं जीत सकता, जैसे जो सुन नहीं पाता, वह बोल भी नहीं सकता, आदि।

जीव तथा ईश्वर का स्वरूप क्या है ?

गहराई से देखो, प्रश्नकर्त्ता महानुभाव जीव हैं या ईश्वर, या दोनों से भिन्न ? यदि प्रश्नकर्त्ता को स्वयं अपना पता नहीं, तो जीव ईश्वर का पता कैसे चला सकते हैं ? क्या आपने अपने में से शरीर के संग से उत्पन्न होने वाले भाव का अन्त कर दिया है ? यदि कर दिया है, तो अब रुचि क्यों शेष है ? देखो, शरीर-भाव का अन्त करने पर भोग-इच्छा का अन्त हो जाता है, क्योंकि शरीर भोग के उपभोग करने का क्षेत्र है। भोग-इच्छा का अन्त होते ही वास्तविक अभिलाषा जागृत हो जाती है।

वास्तविक अभिलाषा क्या है ? क्या आप सर्वदा एकसा रहना पसन्द नहीं करते ? क्या आप जानना नहीं चाहते ? क्या आप दुःख का अन्त करना पसन्द नहीं करते ? इन अभिलाषाओं के लिए प्रत्येक मानव मजबूर है जिसको यह रुचि है, वही जीव है । जिससे इस रुचि की पूर्ति होती है, वही ईश्वर है । जीवत्व उसी समय तक जीवित है, जिस समय तक इस रुचि की पूर्ति नहीं हुई। रुचि की पूर्ति होते ही ईश्वर का

ईश्वरत्व और जीव का जीवत्व मिट कर एक ही तत्व शेष रह जाता है, जो तत्ववेत्ताओं का निज-स्वरूप तथा भक्तों का भगवान् है।

जो सर्वदा नहीं रहता, उसको यदि असत् कहते हो, तो सर्वदा रहने वाला सत् है । जिसमें ज्ञान नहीं है, उसको यदि जड़ कहते हो, तो जिसमें ज्ञान है, वह चेतन है। जिसमें दुःख नहीं है, वही आनन्द है ।

अतः जीव की वास्तविक रुचि क्या हुई ? सत्, चित्, आनन्द पाने की। यह रुचि जिसकी है, वही जीव है और जिससे यह रुचि अभिन्न होती है, वही ईश्वर है, अर्थात् ईश्वर से जीव की जातीय एकता और मानी हुई दूरी है तथा शरीर से मानी हुई एकता और जातीय भिन्नता है ।

शरीर से संसार की स्वरूप से एकता है ? इसी कारण जब तक शरीर-भाव बना रहता है, तब तक संसार की आवश्यकता प्रतीत होती रहती है, अथवा यों कहो कि कुल संसार एक शरीर है। कुल संसार को एक शरीर जान लेने पर कुल संसार से असंगता हो जाती है । जिसको असंगता होती है, वह जीव, और असंग होने पर जिससे एकता होती है, वह ईश्वर है । विषय-विराग होने पर जीव-भाव को अनुभूति, और ईश्वर-भाव होने पर ईश्वर की अनुभूति होती है । यदि ईश्वर और जीव का स्वरूप जानना चाहते हो, तो योग्यता सम्पादन करो। यह प्रश्न हल किया जाता है, सीखा नहीं जाता । विषयी संसार को जान पाता है, विषय-विरागी जीव को जान पाता है और जिज्ञासु, तथा भक्त ईश्वर को जान पाते हैं ।

जीव का स्थान कहाँ है ?

जो शरीर पर अपना अधिकार मानता है, वही जीव है । गहराई से देखो शरीर में क्रिया-शक्ति और ज्ञान-शक्ति की झलक प्रतीत होती है, इसलिए पाँच कर्मेन्द्रियों के और पाँच ज्ञानेन्द्रियों के स्थल हैं, यद्यपि एक एक कर्मेन्द्रिय एक एक ज्ञानेन्द्रिय से अभेद है, अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों का कार्य ही कर्मेन्द्रियाँ हैं। जैसे वाणी का कारण कान है, क्योंकि कान के बिना वाणी काम नहीं करती । जिसने सुना नहीं, वह बोलता भी नहीं । ऐसा ही सम्बन्ध आंख और पैर का, रसना और उपस्थ का, घ्राण और गुदा का तथा त्वचा और हाथ का है । कर्मेन्द्रियों का निरोध करने पर वह ज्ञानेन्द्रियों में विलीन हो जाती हैं और ज्ञानेन्द्रियाँ मन में । जो ज्ञान और क्रिया की झलक दो विभागों में बँटी हुई थी, वह मन में आकर एक हो जाती है, क्योंकि मन में क्रियाशक्ति और ज्ञान-शक्ति दोनों का प्रकाश है । मन में संकल्प की क्रिया भी होती है और वस्तु का ज्ञान भी होता है । यदि मन का सम्बन्ध इन्द्रियों से न हो, तो इन्द्रियाँ कुछ भी नहीं कर पातीं । इन सब कारणों से मन में दोनों विभागों की एकता सिद्ध होती है । मन भी बुद्धि की सम्मति के बिना कुछ भी नहीं कर पाता, अतः मन बुद्धि में विलीन हो जाता है । बुद्धि में क्रिया-शक्ति लेशमात्र और ज्ञान-शक्ति की विशेष झलक रहती है । बुद्धि इच्छाओं के अनुसार प्रवृत्त होती है । इच्छाएँ मुख्यरूप से दो प्रकार की होती हैं—(१) अपने में किसी प्रकार की कमी न रखने की, (२) विषयों के भोग की। ये दोनों अहंभाव में रहती हैं, अतः यही जीव का मुख्य स्थान है ।

—✻—

सन्त-वाणी

भोगों को भली प्रकार अनुभव होने पर भोग-इच्छा का अन्त हो जाता है और फिर महान् होने की इच्छा जागृत हो जाती है, जिसकी पूर्ति तत्व-ज्ञान से होती है।

भोग-इच्छा की पूर्ति के लिए संसार है, अथवा यों कहो भोग-इच्छा ही संसार है।

महान् होने की अभिलाषा की पूर्ति के लिए ही परमात्म-तत्व है। भोग-इच्छा की प्राप्ति का साधन इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि हैं। बाह्य-विषय-विराग होने पर बुद्धि आदि सम हो जाते हैं। तब जीव समाधि के रस का अनुभव करता है। चूँकि समाधि का उत्थान होता है, इस कारण नित्य रस के अभिलाषी को बेचारी समाधि भी सन्तोष नहीं दे पाती। जब समाधि के रस से भी उपराम होकर व्याकुलता जागृत होती है, तब विचार भगवान् प्रकट होकर नित्यरस के अभिलाषी को अपने से अभिन्न कर लेते हैं और फिर किसी प्रकार की कमी शेष नहीं रहती, क्योंकि बोध का उत्थान नहीं होता।

जगत् क्या है ? गहराई से देखो, जिसे आप जगत् कहते हैं वह सिर्फ 'आप' की प्रतीति है। प्रतीति-कर्त्ता उसी की प्रतीति कर सकता है, जिससे किसी न किसी प्रकार की एकता हो अथवा किसी प्रकार की भिन्नता हो, क्योंकि एकता के बिना प्रतीति नहीं होती और भिन्नता के बिना भी प्रतीति नहीं होती। अब विचार यह करना है कि भिन्नता क्या है और एकता क्या है ? गहराई से देखो, प्रतीति किन साधनों से होती है और

कितने प्रकार की होती है ? इन्द्रियों के द्वारा जो प्रतीति होती है, वही बुद्धि द्वारा भिन्न प्रकार की मालूम होती है, किन्तु उनमें इन्द्रियों की अपेक्षा बुद्धि की प्रतीति अधिक माननीय होती है । इन्द्रियों की प्रतीति सद्‌भाव सिर्फ विषयों के राग से होता है । बुद्धि की प्रतीति में सद्‌भाव राग की कमी से होता है । यदि जगत् के वास्तविक स्वरूप को जानना चाहते हो, तो राग का अन्त कर दो, क्योंकि राग होने से यथार्थ दृष्टि उत्पन्न नहीं होगी । राग का अन्त होने पर बुद्धि आदि का काम शेष नहीं रहता और फिर विचार-दृष्टि उत्पन्न होती है, जिससे जगत् अपना ही स्वरूप अनुभव होता है । यह भले प्रकार समझ लो कि जिन साधनों से जगत् की प्रतीति करते हो, उनसे जगत् का अनुभव नहीं कर सकते, अर्थात् जगत् के वास्तविक स्वरूप को नहीं जान सकते, क्योंकि वे प्रतीति के साधन जगत् से भिन्न नहीं हैं । यह नियम है कि असत्य सत्ता का यथार्थ स्वरूप असत्य से असंग होने पर जान सकते हैं । अतः अपने को बुद्धि आदि से असंग कर लो । बुद्धि आदि से असंग होते ही जो अनुभव होता है, उसमें अपने से भिन्न कुछ भी शेष नहीं रहता, अर्थात् जगत् अपना स्वरूप जान पड़ता है ।

आप बुद्धि की ऐनक से अथवा इन्द्रियों की ऐनक से जगत् की प्रतीति करते हो । इन ऐनकों के उतार देने पर अपने से अपने में अपने को अनुभव करते हो ।

एकता तत्व-दृष्टि से है, अर्थात् स्वरूप से भिन्नता नहीं है । भिन्नता सिर्फ मानी हुई है, अर्थात् अपने में विषय-जन्य स्वभाव को स्वीकार कर लिया है, यही भिन्नता का कारण है ।

—✻—

जगत् की प्रतीति जगत् रूप से किसको होती है ? जगत् की प्रतीति जगत् रूप से (अपने स्वरूप से नहीं) उसी को होती है, जिसने अपने में विषय-जन्य स्वभाव धारण कर लिया है । विषय-जन्य स्वभाव का त्याग करने पर जगत् की सत्ता जगत् रूप से शेष नहीं रहती ।

जगत् की जगत् रूप से सत्ता क्या है ? विषय-जन्य स्वभाव की प्रतीति, क्योंकि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध से भिन्न और कुछ नहीं प्रतीत होता ।

विषय-जन्य स्वभाव कौन धारण करता है ? गहराई से देखो, जिसके बिना जो न रह सके, वही उसका कारण होताहै । जागृत और स्वप्न में विषय-जन्य स्वभाव की प्रतीति होती है, किन्तु सुषुप्ति में विषय-जन्य स्वभाव की प्रतीति नहीं होती, अर्थात् सुषुप्तिकाल में विषय-जन्य स्वभाव, जिसमें विलीन होता है, वही विषय-जन्य स्वभाव धारण करता है ।

विषय-जन्य स्वभाव क्यों धारण किया ? यह प्रश्न ही गलत है, क्योंकि कार्य के होते हुए कारण का ज्ञान नहीं होता । कार्य का अन्त होने पर कारण का ज्ञान होता है । अतः विषय-जन्य स्वभाव का अन्त करने पर यह प्रश्न स्वयं हल हो जायगा, प्यारे, यह प्रश्न हल किया जाता है, इसका उत्तर सुना नहीं जाता, क्योंकि प्रश्नकर्त्ता महोदय ने भी तो विषय-जन्य स्वभाव धारण किया है, वह क्यों नहीं जान लेते कि विषय-जन्य स्वभाव क्यों धारण किया ।

प्रार्थना में सफलता क्यों नहीं होती ? गहराई से देखो, क्या प्रार्थनाकर्त्ता महानुभाव प्रार्थना तब करते हैं, जब करनी चाहिए ? यदि प्रार्थना सफल नहीं हुई, तो उसका

कारण यही है कि प्रार्थनाकर्त्ता अनाधिकार-चेष्टा करते हैं। प्रार्थना करने का अधिकार तब होता है, जब कर्त्ता अपनी सारी शक्ति समाप्त कर दे, क्योंकि शक्ति रहते हुए सच्ची प्रार्थना नहीं होती। प्रार्थना वास्तव में दुःखी हृदय की आवाज है। दुःखी की आवाज सुन कर दुःख-हारी अवश्य दुःख हर लेते हैं, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। किन्तु जो दिमाग से प्रार्थना करते हैं और हृदय में सन्देह रखते हैं कि जब सफल हो जायगी, तब दुःखहारी की सत्ता स्वीकार करेंगे, अथवा यों कहो कि जिन्हें उनकी सर्व समर्थता पर सद्भाव नहीं है, ऐसे प्रार्थी प्रार्थना कर नहीं पाते। यदि उनकी समर्थता पर सद्भाव होता, तो क्या वाणी अथवा दिमाग से प्रार्थना करनी पड़ती ? क्या उनको प्रार्थी की रुचि का ज्ञान नहीं है ? यदि है, तो प्रार्थी को वाणी से कहने से क्या लाभ ? अथवा चिन्तन करने से क्या लाभ ? प्रार्थी के बार-बार चिन्तन करने का अर्थ यही हो जाता है कि या तो प्रार्थी अपने को बचाकर प्रार्थना करता है अथवा अपने इष्टदेव की सर्वसमर्थता पर श्रद्धा नहीं करता। जो प्रार्थी अपनी सारी शक्ति समाप्त कर सर्व समर्थ इष्टदेव से प्रार्थना करता है, उसकी प्रार्थना अवश्य सफल होती है। प्रार्थना की नहीं जाती बल्कि होती है, क्योंकि जब अभिलाषा मिटा पाते नहीं और उसके पूर्ण करने की शक्ति नहीं होती, तब जो आवाज हृदय से उत्पन्न होती है, वही प्रार्थना है। ऐसी प्रार्थना एक बार उदय होकर इष्ट में विलीन हो जाती है, अर्थात् वह प्रार्थी का स्वरूप हो जाती है, अथवा यों कहो कि प्रार्थी सर्वसमर्थ इष्ट में विलीन हो जाता है। यही प्रार्थना का वास्तविक स्वरूप है, जो होने पर सफल अवश्य होती है।

इष्ट प्राप्ति के लिये क्या करना चाहिए?

इष्ट के अभिलाषी को प्रथम अपना निरीक्षण करना चाहिए कि हम इस प्राप्ति के लिए क्या कर सकते हैं? प्यारे, अपना सब कुछ देने पर इष्ट का सब कुछ मिलता है और अपने को दे देने पर इष्ट-प्राप्ति होती है, इसमे किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं है।

अपना सब कुछ दे देने की शक्ति तब आती है, जब इष्ट में किसी भी प्रकार का दोष अथवा कमी प्रतीत न हो, क्योंकि जिसमें किसी भी प्रकार की कमी है, वह इष्ट हो ही नहीं सकता। अतः प्रथम इष्ट की निर्दोषता का भली प्रकार अनुभव कर लो।

अपना सब कुछ दे देने का अर्थ यही है कि शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि, अर्थात् अपने से भिन्न सभी वस्तुयें, जिनमें ममत्व है, इष्ट की सेवा के लिये दे दी जायँ।

अपने को दे देने का अर्थ यही है कि अपना जो कर्तृत्व और भोक्तृत्वरूप माना हुआ स्वभाव है, उसका नितान्त अन्त कर दे, अथवा यों कहो कि 'मैं और मेरा' का दूसरा स्वरूप 'तू और तेरा' हो जाय। जीवन का ऐसा स्वरूप होने पर ही इष्ट-प्राप्ति हो सकती है।

—※—

सन्त-वाणी

१—जो मानव संसार की सत्ता से भिन्न और किसी सत्ता को स्वीकार नहीं करते हैं, वे बेचारे यदि अपना बड़े से बड़ा लक्ष्य बनायें, तो यही कर सकते हैं कि संसार के दुःख से दुःखी हो जायँ तथा सुख से सुखी हो जायँ। सिर्फ संसार की सेवा करने के लिए इच्छाशक्ति के अनुसार जीवन हो जाने पर अनेक अलौकिक शक्तियाँ आ जाती हैं, जिनसे वे क्षणिक शान्ति, अर्थात् यश का रस, सेवाभाव का रस, क्रिया-जन्य रस, त्यागाभिमान का रस आदि रसों के आधार पर सिसकते से रहते हैं, अर्थात् पूर्ण शान्ति नहीं पाते।

२—जो मानव संसार से भिन्न सत्ता को भी स्वीकार कर लेते हैं, वे भी संसार के दुःख से दुःखी होकर प्रेम-पात्र के नाते से संसार की सेवा करते हैं, किन्तु उनका लक्ष्य शक्ति और शान्ति दोनों ही होता है, उनके भाव में यही होता है कि सेवा के लिये शक्ति और अपने लिए शान्ति प्राप्त हो। अपने को संसार से भिन्न सत्ता (प्रेम-पात्र) के समर्पण करने पर बिना माँगे शक्ति और शान्ति मिलती है, क्योंकि वे अपनी पूर्ति के लिए शरीर तथा संसार की आशा नहीं करते, बल्कि एकमात्र प्रेम-पात्र ही उनका जीवन होता है। उनकी अनुभूति के लिए जो कुछ करना चाहिए, करते हैं। सेवा करते हुए भी सेवाभिमान लेशमात्र भी उत्पन्न नहीं होता। प्रत्येक सेवा के अन्त में प्रेम-पात्र का

अथवा अभेद-भाव का अनुभव स्वाभाविक होता है। इसी कारण वे परम शान्ति पाते हैं।

३—जो सत्ता संसार से भिन्न है, वही प्रेमी का प्रेम-पात्र है, जिसका स्वरूप अनन्त शक्ति तथा अनन्त शान्ति है, अथवा यों कहो कि अनन्त ऐश्वर्य तथा अनन्त माधुर्य है।

४—सेवाभिमान का रस, क्रिया-जन्य रस, यश का रस, विषयः जन्य रस आदि का अन्त करना ही समर्पण की योग्यता सम्पादन करना है। कर्तृत्व-भोक्तृत्व-स्वभाव का अन्त कर देना ही सच्चा समर्पण है।

५—जब तक समर्पण न कर सके, तब तक व्याकुलतापूर्वक समर्पण करने के लिए शक्ति प्रदान करने की प्रेम-पात्र से बार-बार प्रार्थना करता रहे।

६—सब प्रकार से उनके हो जाने पर प्रेमी का कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहता।

७—करने का भय उसी समय तक रहता है, जब तक प्रेमी अपने को बचा रखता है।

८—जो करना चाहिए, उसके करते ही करने की शक्ति जीवित नहीं रहती।

—※—

प्रभु में पूर्ण आसक्ति कैसे हो ?	पूर्ण आसक्ति पूर्ण आवश्यकता होने पर होती है, क्योंकि आसक्ति आवश्यकता के आधीन है।
मुझे क्या जानना चाहिए ?	दुःखी होते हुए भी दुःख का अनुभव न करना अत्यन्त प्रमाद है। उस प्रमाद के कारण

ही, मुझे क्या जानना चाहिए", यह प्रश्न हल नहीं हुआ । प्रमाद मिटाने के लिए प्रतिदिन कुछ न कुछ प्रयत्न करो ।

सोने से प्रथम कम से कम एक घण्टा सब कार्य समाप्त होने पर एकान्त में बैठो । वहाँ पर कोई और मानव न हो । उस दिन के किए हुए प्रत्येक कार्य पर दृष्टि डालो और देखो कि आज कोई नया कार्य तो नहीं किया । और फिर यह भी विचार करो कि आज कल जो कुछ करते हैं, वह कब तक करते रहेंगे ? सब से अन्तिम कार्य क्या होगा ? जब करने की शक्ति नहीं रहेगी, तब क्या करेंगे ? जो परिस्थिति कुछ काल पहले थी, वह न रही, तो क्या यह बनी रहेगी ? जीवन का भविष्य क्या होगा ? इस प्रकार के अनेक प्रश्न अपने में उत्पन्न कर दो, ऐसे प्रश्न उत्पन्न होने पर हृदय में एक अजीब उथल-पुथल मच जायगी जो प्रमाद को हटाने में समर्थ होगी ।

वर्तमान परिस्थिति से निराश होते ही यथार्थ जिज्ञासा जागृत होगी । यदि निराशा इस प्रकार हो गई है कि संसार की प्रत्येक परिस्थिति का समान अर्थ हो गया है, अर्थात् संसार की कोई भी परिस्थिति सन्तुष्ट नहीं कर पाती, तब तो यथार्थ तत्व का अनुभव वर्तमान में ही हो जायगा ।

विषय-जन्य स्वभाव से सच्ची निराशा होने पर असंगता आ जाती है । पूर्ण असंगता किसी का संग होती है, अर्थात् असंगता ही यथार्थ तत्व के साक्षात्कार में पूर्ण समर्थ हैं । जो जानना चाहिए, उसका अनुभव करना है, सीखना नहीं कि क्या जानना चाहिए । जानना जिज्ञासु का जीवन है, उससे भिन्न जिज्ञासु को कुछ भी करना शेष नहीं है ।

किसी व्यक्ति या समाज पर कैसे अधिकार किया जाय ?

१. जिस व्यक्ति तथा समाज पर अधिकार करना चाहते हो, तो प्रथम उसकी आवश्यकता की पूर्ति करो ।
२. उससे अपनी पूर्ति की आशा मत करो ।
३. उसकी ओर से आने वाले आक्रमणों का अपने पर प्रभाव मत होने दो, अर्थात् उसको लीलावत् समझो ।
४. उसकी प्रतिकूलता पर विश्वास मत करो, बल्कि उनकी अनुकूलता का चिंतन करो ।



सन्त-वाणी

करने के अभिमान से न करने का दुःख कहीं अच्छा है, क्योंकि करने का अभिमान फल में बांध लेता है और न करने का दुःख हृदय का परिवर्तन करने में समर्थ होता है । हृदय का परिवर्तन होने पर जो करना चाहिए, उसे करने की शक्ति उत्पन्न होती है ।

अच्छाई का अभिमान बुराई का मूल है । अभिमान रहित अच्छाई पूजन करने योग्य है ।

करने का अभिमान तब तक होता है, जब तब करना सीखा जाता है । कर्त्ता को करने का पूर्ण फल तब मिलता है, जब कर्तव्य कर्त्ता का स्वभाव हो जाय । स्वभाव होने पर करने का अभिमान नहीं होता, जिस प्रकार फूल के खिलने पर गन्ध स्वाभाविक फैलती है, किन्तु फूल को यह अभिमान नहीं होता कि मैं गन्ध फैला रहा हूँ ।

२ अप्रेल १९४१

अन्तःकरण की शुद्धि क्या है ? गहराई से देखो, जिस प्रकार वस्त्र में बाह्य वस्तुओं का मिल जाना वस्त्र की मलिनता कहलाती है और उन वस्तुओं का जो वस्त्र की जाति से भिन्न है, निकल जाना ही वस्त्र की शुद्धता कहलाती है, उसी प्रकार अन्तःकरण में विषयादिक स्वभाव का प्रभाव हो जाना ही अन्तःकरण की मलिनता है और उससे विषय आदिका प्रभाव निकल जाना ही अन्तःकरण की शुद्धता है। अन्तःकरण की शुद्धता हो जाने पर उसकी प्रवृत्ति स्वाभाविक हो जाती है। स्वाभाविक प्रवृत्ति होने पर प्रवृत्ति-काल से भिन्न अन्तःकरण स्वयं अपने कारण में विलीन हो जाता है, अर्थात् निर्विकल्प स्थिति की अनुभूति होती है।

निर्विकल्प स्थिति शुद्ध अन्तःकरण की स्वाभाविक अवस्था है। इन्द्रियों की क्रिया का प्रभाव क्रिया के सिवाय और कुछ अर्थ नहीं रखता, अर्थात् इन्द्रियों की चेष्टा निर्जीव मशीन की भाँति होती रहती है।

जिस प्रकार बाह्य इन्द्रियाँ चेष्टारहित अवस्था में अन्तःकरण में विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार आन्तरिक इन्द्रियाँ चेष्टा-रहित होने पर निर्विकल्प स्थिति में विलीन हो जाती हैं। यही अन्तःकरण की शुद्धता है।

अन्तःकरण की शुद्धता का फल क्या है ? अन्तःकरण शुद्ध होने पर पूर्ण सत्य की जिज्ञासा जागृत होती है, और फिर सत्य की कृपा से स्वयं सत्य का अनुभव हो जाता है।

सत्य का अनुभव करने के लिये, अथवा यों कहो कि जीवन की पूर्णता के लिये, अन्तःकरण की शुद्धता परम अनिवार्य है ।

सत्य और अहिंसा से क्या राष्ट्र शासन कर सकता है ?

गहराई से देखो, जिस राष्ट्र से सत्य तथा अहिंसा निकल जाती है, वह राष्ट्र किसी प्रकार शासन नहीं कर सकता, क्योंकि सत्य और अहिंसा की रक्षा के लिये ही राष्ट्र की आवश्यकता होती है । जो गुण स्वयं राष्ट्र के जीवन का स्वरूप नहीं है, भला उस गुण की राष्ट्र रक्षा ही कैसे कर सकता है ? अर्थात् नहीं कर सकता ।

साधारण मानव सत्य और अहिंसा को राष्ट्र की आवश्यक वस्तु नहीं मानते, यह वास्तव में भूल है, क्योंकि धर्म और राष्ट्र इन दोनों का परस्पर समान सम्बन्ध है । जिस प्रकार सेना का विभाग राष्ट्र के जान व माल की रक्षा करता है, उसी प्रकार राष्ट्र धर्म की रक्षा करता है । अतः राष्ट्र धर्म का अंग है और धर्म मानव का जीवन है । जो राष्ट्र मानव-जीवन की पूर्ति में असमर्थ है, वह जीवित नहीं रह सकता ।

सभी राष्ट्रों का परिवतन तब हुआ है, जब उनमें स्वार्थ की अधिकता और सत्य तथा अहिंसा की कमी हुई है । सत्य की कमी से न्याय की कमी हो जाती है और अहिंसा की कमी से प्रजा का दुःख नहीं दिखाई देता ।

जो राष्ट्र न्याय नहीं कर सकता अथवा प्रजा के दुःख से दुखी नहीं होता, वह भला शासन कैसे कर सकता है ?
अर्थात् नहीं कर सकता ।

क्या सभी जनता सत्य और अहिंसा वादी हो सकती है ?

गहराई से देखो, सभी जनता वास्तव में राष्ट्र नहीं होती। राष्ट्र तो इने गिने महानुभावों का समुदाय होता है। सभी जनता तो निर्जीव मशीन की भाँति उस समुदाय का अनुकरण करती है। राष्ट्र के समुदाय का परिवर्तन होना ही राष्ट्र का परिवर्तन है।

हिंसात्मक युद्ध ओर अहिंसात्मक युद्ध में क्या भेद है ?

हिंसात्मक युद्ध किसी प्रकार विजय प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि शरीररूपी क्षेत्र के तोड़ देने से विचारों का समुदाय मिटाया नहीं जा सकता। अतः हिंसात्मक युद्ध से जो राष्ट्र आज छिन्न-भिन्न दिखाई देता है, वही कालान्तर में घोर प्रबलतापूर्वक पुनः युद्ध करने के लिये समर्थ होता है, क्योंकि उसकी युद्ध की भावना नष्ट नहीं हुई थी। मरने वाला प्राणी पुनः मारने के लिये प्रकृति माता से शक्ति लेकर उत्पन्न होता है। अतः हिंसात्मक युद्ध से विजय किसी प्रकार नहीं हो सकती।

अहिंसात्मक युद्ध से शरीररूपी क्षेत्र को नहीं तोड़ा जाता, बल्कि युद्ध की भावना को मिटाया जाता है। अतः अहिंसात्मक युद्ध से विजय प्राप्त हो सकती है।

सत्याग्रह करने पर क्या दूसरों को दुःख नही होता ? यदि होता है तो अहिंसा कैसी ?

सत्याग्रह से जो दुःख दिखाई देता है, वह दुखी की भूल से उत्पन्न होता है, सत्याग्रही से नहीं, क्योंकि सत्याग्रही के हृदय में दुःख देने का भाव नहीं है और न दुःख देने की क्रिया है; जिस प्रकार प्रह्लाद के हृदय में नृसिंह भगवान के अवतार का भाव नहीं था,

वह तो केवल अपने भाव में निष्ठा रखता था। नृसिंह भगवान् के स्वरूप में तो हिरण्यकशिपु का दोष प्रकट हुआ था।

जिस रोगी को औषधि लाभ नहीं कर पाती, उसको प्रकृति माता अपने में विलीन कर स्वास्थ्य प्रदान करती हैं। उसी प्रकार जो सत्याग्रह से नहीं बदलता, उसके बदलने के लिये प्रकृति माता नृसिंह भगवान् के समान आसुरी स्वभाव को धारण कर, सुधार-युक्त नवीन जीवन के लिये अपने में विलीन कर लेती हैं।

क्या प्रायश्चित से पाप मिट जाता है ?

पर्याप्त प्रायश्चित होने पर निसन्देह पाप मिट जाता है। प्रायश्चित करने का वही अधिकारी है जो फिर पाप नहीं करता और जितना रस उस पाप से उत्पन्न हुआ था, उससे कहीं अधिक व्याकुल होता है।

प्यारे, कर्म का जो अदृश्य है, अर्थात् करने का जो संस्कार अंकित हो गया है, प्रायश्चित का संकल्प उस संस्कार को खा लेता है। अतः निसन्देह प्रायश्चित से क्रियमाण मिट जाता है।

साधन में सफलता क्यों नहीं प्राप्त होती है ?

गहराई से देखो जिस प्रकार तृषा-युक्त प्राणी को पानी मिलने पर प्यास की शांति स्वाभाविक हो जाती है और वह प्राणी पानी भी पी लेता है, क्योंकि आवश्यकतानुसार मिला था, उसी प्रकार जब साधन-कर्त्ता के अनुकूल साधन मिल जाता है, तब वह जीवन का स्वरूप भी हो जाता है और उसमें सफलता भी हो जाती है। साधन में सफलता न होने का कारण यही है कि कर्त्ता साधनकरने से प्रथम अपना निरीक्षण

नहीं करता, अर्थात् अपनी आवश्यकता को नहीं जान पाता। यदि जान भी लेता है, तो उसको स्थायी नहीं कर पाता। यदि स्थायी भी कर लेता है, तो अनुकूल साधन की खोज नहीं करता। इन सब कारणों से ही साधन में सफलता नहीं होती।

कल्पना करो कि नाम तथा मंत्र आदि के जप में मन नहीं लगता। इसका कारण क्या है ? या तो वह साधक उससे ऊपर के साधन का अधिकारी है, या उससे नीचे का। यदि जप का अधिकार होता, तो जप में अवश्य मन लग जाता और सफलता भी हो जाती। किन्तु अधिकार के अनुकूल साधन न होने के कारण उसमें सद्भाव तथा प्रवृत्ति नहीं होती। प्रवृत्ति न होने का कारण साधन की प्रतिकूलता है। दोषों का त्याग करते ही गुणों का उदय अपने आप हो जाता है। यदि किसी की अशुभ प्रवृत्ति है, तो उसको प्रथम उसका त्याग करना होगा। उसका त्याग करते ही शुभ प्रवृत्ति स्वयं हो जायगी। अशुभ प्रवृत्ति वाला उपासना का अधिकारी नहीं है, क्योंकि उपासना करने के लिए पूर्ण आस्तिकता होनी चाहिये। पूर्ण आस्तिकता का उदय तब होता है, जब शुभ कर्म भी कर्त्ता को शांति नहीं दे पाते।

विचार-मार्ग का अनुसरण करने का वह अधिकारी है, जो किसी प्रकार की मानी हुई सत्ता की स्वीकृति नहीं करता, अर्थात् सभी मानी हुई सत्ताओं का त्याग करता है, जिसको कोई भी परिस्थिति रस नहीं दे पाती, अर्थात् जिसकी विषय-निवृत्ति स्वाभाविक है तथा जो वर्तमान में ही सत्य का अनुभव करने में समर्थ है, अर्थात् जिसको भविष्य की आशा नहीं है, यहाँ तक कि जिसे अपने विचारों में भी आसक्ति का लेश नहीं है,

बल्कि यथार्थ निर्णय करने का भाव है, और जिसके राग-द्वेष का नितान्त अन्त हो गया है, क्योंकि यथार्थ निर्णय करने के लिये राग-द्वेष रहित बुद्धि चाहिये। राग दोष नहीं देखने देता तथा द्वेष गुण नहीं देखने देता। अतः जो सत्य में प्रवृत्ति और असत्य की निवृत्ति में सर्वदा उद्यत है, वह विचार मार्ग का अधिकारी है।

अनुकूल साधन मिलने पर भी यदि प्रमाद-वश साधक साधन को जीवन का स्वरूप नहीं बनाता और साधन में सद्भाव नहीं करता तथा अपने को बचाता है, अर्थात् पूरी शक्ति नहीं लगाता अथवा अदृश्य की मलिनता के कारण, कोई विक्षेप होने के कारण, साधन का त्याग कर देता है, तो भी सफलता नहीं पाता। अतः साधक को प्रमाद से तथा विक्षेप के भय से साधन का त्याग नहीं करना चाहिये।

साधन का परिवर्तन करना भी साधक की ही कमी है, जैसे एक मन्त्र को छोड़कर दूसरे मन्त्र का जप करना आदि।

साधन की खोज करने के लिए साधक के हृदय में सच्ची व्याकुलता होनी चाहिये, क्योंकि व्याकुलता की आवाज सद्गुरु के हृदय को मजबूर कर देती है। अधिकारी का अधिकार उसी प्रकार प्रतीक्षा करता है, जिस प्रकार अधिकारी अधिकार की करता है। सच्चे साधक को अनुकूल साधन अवश्य ही प्राप्त होते हैं। अतः साधक को कभी निराश नहीं होना चाहिये। बल्कि व्याकुलता बढ़ाते रहना चाहिये।

कर्तव्य का जन्म कैसे होता है ? अहं के अनुसार कर्तव्य का विधान होता है, क्योंकि अहं के परिवर्तन से कर्तव्य

का परिवर्तन हो जाता है। कर्तव्य और अहं का एक स्वरूप होने पर कर्त्ता आदर पाता है और अन्त में उस कर्तव्य से मुक्त भी हो जाता है। अहं का अन्त होने पर कर्तव्य का अन्त हो जाता है। अतः कर्तव्य माने हुए अहं की रक्षा करता है और माना हुआ अहं कर्तव्य का विधान करता है।

—※—

सन्त-वाणी

प्रथम शरीर को देखो कि वह क्या है ? फिर संसार को देखो, अपने को देखो और ईश्वर को देखो।

—※—

३ अप्रेल १९४१

मल-दोष क्या है ? अपनी पूर्ति के लिये शरीर तथा संसार की आशा करना ही मल-दोष है।

मल-दोष की निवृत्ति कैसे होती है ? प्रेम-पात्र के नाते से सेवाभाव पूर्वक नियमानुसार कर्म करने पर मल-दोष की निवृत्ति होती है।

भेद उपासना तथा अभेद उपासना में क्या अन्तर है ? भेद उपासना करने वाला भक्त अपने प्रेम-पात्र को अपने से भिन्न किसी प्रतीक में अनुभव करता है, इसी कारण तन्मयता आदि भाव-जन्य रस का अनुभव होने पर भी उसमें वियोग का रस रहता है तथा उसे स्वभाव से ही निरन्तर स्मरण, चिन्तन और ध्यान भी होता रहता है। परन्तु अभेदोपासक अपने प्रेम-पात्र को अपने में ही अनुभव करता है, अर्थात् शरीर

भाव का अन्त कर देता है। इसी कारण चिन्तन-रहित स्थिति को प्राप्त कर अभेद के आनन्द का अनुभव करता है। उसके लिये करने का तथा वियोग का नितान्त अन्त हो जाता है।

कृपापात्र कौन हो सकता है ? गहराई से देखो, कृपा-पात्र वही है जो सिर्फ एक ही कृपालु की कृपा की आशा करता है और जो अपनी सारी शक्ति समर्पण कर केवल कृपा पर ही पूर्ण भरोसा करता है। अतः एकमात्र जिसका कृपा ही सहारा है, वही कृपापात्र है। ऐसे कृपापात्र पर कृपा करने के लिए कृपालु मजबूर हो जाते हैं। कृपा-पात्र में करने की शक्ति शेष नहीं रहती, क्योंकि उसके सभी साधन कृपा में विलीन हो जाते हैं। कृपा का सहारा वही करते हैं, जो अपने प्रेम-पात्र के प्रभाव को पूर्णतया जानते हैं।

—※—

सन्त-वाणी

साधन ही साधक का जीवन है। साध्य की अनुभूति होने पर ही साधक तथा साधन का अन्त होता है। साधक का जीवन होते हुए साधन का अन्त नहीं होना चाहिये, क्योंकि ये दोनों अभेद हैं। जो साधन साधक का जीवन नहीं होता वह वास्तव में साधन नहीं है।

—※—

ईश्वर मानने की जीवन में कोई आवश्यकता नहीं है। यह बिल्कुल ठीक है कि ईश्वर मानना नहीं चाहिये, बल्कि जानना अवश्य चाहिये। माने हुए ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं है। क्या आप अपनी अभिलाषाओं की पूर्ति

में समर्थ हैं ? यदि नहीं हैं, तो अभिलाषा किसके सामने प्रकट करते हो ? अभिलाषा का होना ही अपने मे विशेष सत्ता की स्वीकृति का सूचक है, क्योंकि अभिलाषा-काल में सभी दीन होते हैं, जो अभिलाषा मिटायी नहीं जाती, उसका पूर्ण होना अनिवार्य है।

यदि यह कहो कि अभिलाषा कुछ नहीं है, तो यह बताओ कि अभिलाषा-रहित आपका क्या स्वरूप है ? अभिलाषा-रहित अभिलाषी की कोई सत्ता शेष नहीं रहती । अभिलाषा की पूर्ति के लिये अभिलाषी तथा अभिलाषी का बनाया हुआ संगठन असमर्थ है, और अभिलाषीं होते हुए अभिलाषी का दुःख मिट नहीं सकता। अतः दुःख हरने के लिये दुःखहारीं हरि का होना परम आवश्यक है, अर्थात् ईश्वर ही जीवन का परम आवश्यक तत्व है। जिसकी अभिलाषा है, वही ईश्वर का स्वरूप है। अभिलाषा के पूर्ण होने पर अभिलाषी की सत्ता शेष नहीं रहती, अर्थात् वह प्रेम-पात्र से अभिन्न हो जाता है । अतः ईश्वर होकर ही ईश्वर का अनुभव होता है। ईश्वर माना नहीं जाता बल्कि जाना जाता है ।

राग और द्वेष क्या है ? गुण होते हुए भी अपना न सके, यही द्वेष है; और दोष होते हुए भी त्याग न सके यही राग है ।

राग किससे करते हैं और द्वेष किससे करते है ? साधारण प्राणी शरीर आदि में अनेक दोष होते हुए भी शरीर आदि का त्याग नहीं करते। यद्यपि अभिलाषा निर्दोष तत्व की है, किन्तु राग के कारण जिसका त्याग करना चाहिये, नहीं कर पाते। सत्य (ईश्वर) में अनन्त गुण होते हुए भी साधारण प्राणी उससे अभिन्न नहीं हो पाते, अर्थात् उससे द्वेष करते हैं, यद्यपि

चाहिये प्रेम करना। शरीर आदि का त्याग और सत्य का प्रेम वास्तव में पूर्ण जीवन है।

पाप क्या है ? (१) अपनी प्रसन्नता अपने से भिन्न किसी अन्य के आश्रित जीवित रहे, यही पाप है। यद्यपि यह बात सुनने में अजीब सी मालूम होती है, किन्तु है सब प्रकार से सत्य। गहराई से देखो, पापयुक्त प्रवृत्ति कब होती है ? जब हमको अपने से भिन्न की आवश्यकता होती है। अपने से भिन्न की आवश्यकता कब होती है ? जब हम अपने में सीमित भाव (शरीर आदि) मान लेते हैं। सीमित भाव मानते ही आस्तिकता का अन्त हो जाता है, क्योंकि जिसकी (निज-स्वरूप) सत्ता हर काल में है और जो स्वाभाविक परम प्रिय है, उसका त्याग कर हम अपने को अनेक कल्पनाओं में बाँधकर, अनन्त वासनाओं के जाल में फँस जाते हैं। भला बताओ तो सही, इससे बड़ा पाप और क्या होगा।

(२) अपने को जिस कल्पना में बाँध लिया हो उसके विपरीत करना पाप की प्रवृत्ति है, क्योंकि संस्कार-युक्त (वर्णाश्रम के अनुकूल) अहं की रक्षा करना कर्त्तव्य है। उसकी रक्षा न करना, की हुई कल्पना के विपरीत है, अतः पाप है, क्योंकि अहं के अनुसार क्रिया करने पर ही उस अहं से पार हो सकता है, अतः इस दृष्टि से भी अहं के विपरीत क्रिया करना पाप है।

(३) जो सीमित की ओर ले जाय वही पाप है।

पुण्य क्या है ? अपनी प्रसन्नता के लिये अपने से भिन्न किसी की ओर न देखना अर्थात् अपने में

ही अपने प्रेम-पात्र का अनुभव करना, यही परम पुण्य है ।

(२) जिसको अपनी ओर से जैसा मान लिया है, उसके प्रति उसके हित के लिये अपने माने हुए भाव के अनुसार सेवा करना पुण्य है ।

(३) जिससे शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति हो वही पुण्य है ।



सन्त-वाणी

यदि कोई कार्य ऐसा हो जिससे शारीरिक उन्नति होती हो, किन्तु मानसिक अवनति, तो ऐसी अवस्था में मानसिक उन्नति का अधिक ध्यान रखना चाहिये और मानसिक उन्नति की अपेक्षा आत्मिक उन्नति का अधिक ध्यान रखना चाहिये, क्योंकि आत्मिक उन्नति होने पर और किसी उन्नति की आवश्यकता नहीं रहती और मानसिक उन्नति होने पर शारीरिक उन्नति की आवश्यकता नहीं रहती ।

विषयासक्त होने पर जीवन की जो अवस्था होती है, वही पशु जीवन है, क्योंकि उस अवस्था में स्वतन्त्रता लेशमात्र भी शेष नहीं रहती । पराधीनता जीवन का स्वरूप हो जाती है ।

जिसका जीवन दूसरों की पूर्ति के लिये है, अर्थात् जिसने शरीर को संसार के हित में लगा दिया है, उसका जीवन मानव जीवन है, क्योंकि ऐसा जीवन होने पर ही विषयासक्ति का अन्त हो जाता है ।

शरीर संसार के लिये और अपने को सत्य के लिये समर्पण करने पर ईश्वरीय जीवन का आरम्भ होता है। इस जीवन का स्वरूप क्या है ? उसका कथन सिर्फ संकेतमात्र है, क्योकि वाणी आदि में कथन करने की शक्ति नहीं है। सिर्फ इतना ही कहा जा सकता है कि ईश्वरीय जीवन से ही जीवन की पूर्णता सिद्ध होती है।

राग-द्वेष-युक्त जीवन अपूर्ण है। त्याग-प्रेम-युक्त जीवन पूर्ण है। त्याग करने योग्य वस्तुओं का त्याग न करने पर राग उत्पन्न होता है। प्रेम-पात्र से (जो निर्दोष तत्व है) प्रेम न करने पर द्वेष उत्पन्न होता है। राग त्याग से और द्वेष प्रेम से मिट जाता है। त्याग से असंगता और प्रेम से अभिन्नता होती है। प्रेम प्रेम-पात्र से तथा त्याग संसार का होता है। जो इसके विपरीत करते हैं, वे बेचारे दीनता तथा अभिमान की अग्नि में जलते रहते हैं।

प्रेम प्रेम-पात्र का स्वरूप है, संसार का नहीं, क्योंकि चाह-युक्त प्राणी प्रेम नहीं कर सकता।

विषयी विषयों की पूजा करता है, इसलिए दीन होता है। प्रेमी प्रेम-पात्र की पूजा करता है, इसलिये पूर्ण होता है, क्योंकि प्रेम-पात्र स्वतन्त्र और विषय परतन्त्र हैं। परतन्त्र का पुजारी परतन्त्रता और स्वतन्त्रता का पुजारी स्वतन्त्रता पाता है।

जो शरीर आदि वस्तुएँ निरन्तर त्याग कर रही हैं, उनका त्याग करने पर उनकी ओर (प्रेम-पात्र की ओर) अपने आप ही हो जाओगे। अथवा यों कहो कि वह स्वयं अपना लेंगे। त्याग क्रिया नही है, बल्कि असंगता है। क्रिया रूप से तो सभी का त्याग हो ही जाता है, किन्तु राग के कारण स्वरूप से त्याग

होने पर भी त्याग नहीं होता। सच्चा त्याग जीवन में ही हो सकता है, क्योंकि राग अविचार से उत्पन्न हुआ है, अतः विचार से मिट जाता है।

दुखी तथा दीन में काफी भेद है। दीन वर्तमान परिस्थिति पर सन्तुष्ट-सा रहता है, अर्थात् उसे बदलने में भय करता है और दुखी वर्तमान परिस्थिति बदलने के लिये सब कुछ करता है, अर्थात् उस परिस्थिति को किसी प्रकार रहने नहीं देता। अतः दीन दीनता की अग्नि में जलता रहता है और दुखी आनन्द पाता है।

—*—

परिभाषाएँ

ईश्वर—जिसके बिना मिले परम शान्ति नहीं पाते हो, वही ईश्वर है।

भजन—उनके बिना किसी प्रकार भी चैन से न रहो, यही भजन है।

उन्नति का मूल—व्याकुलता ही उन्नति का परम मूल है।

आनन्द—जो होकर मिट जाता है, उसको आनन्द समझना भूल है। आनन्द आ जाने पर मिटता नहीं, अर्थात् जो मिट जाता है, वह आनन्द नहीं बल्कि मन की थकावट है।

यथार्थ ज्ञान—उससे अभिन्न हो जाना ही यथार्थ ज्ञान है।

विचार—मानी हुई सत्ता की अस्वीकृति ही विचार है, क्योंकि विचार से अवास्तविक सत्ता का निराकरण होता है।

योग—अपने में आनन्दघन भगवान् की स्थापना कर, अपना

सब कुछ उनके समर्पण कर देना, अर्थात् भोग-भाव का अभाव कर देना ही योग है ।

साधन—जो क्रिया अपनी आवश्यकता पूर्ति में समर्थ है, वही साधन है ।

नोट—साधन सभी ठीक होते हैं, परन्तु सफलता साधक की योग्यता पर निर्भर है । एक समय में अनेक प्रकार के साधन करना भूल है। जो साधन सबसे अधिक प्रिय मालूम हो, उसके सिवा और सब साधनों को छोड़ दो, क्योंकि कोई भी राहगीर एक काल में दो रास्तों पर नहीं चलता ।

उत्तम साधन—रोना ही सर्वोत्तम साधन है, क्योंकि आँसुओं की धार में माना हुआ अहंभाव बह जाता है ।

नोट—रोना सर्वोत्तम साधन इसलिये है कि उसे करने में प्रत्येक साधक सर्वथा स्वतन्त्र है । रोने की पूर्णता सभी दोषों को मिटाने में समर्थ है । जो रोना दोष को निवृत्त किये बिना चला जाता है, वह वास्तव में रोना नहीं है । रोना उसी प्राणी को आता है, जो अपना मूल्य संसार से अधिक कर लेता है, क्योंकि बिना असहाय हुए रोना नहीं आता । पूर्ण तत्व के अतिरिक्त सभी रोते हैं । विचारशील को विचार, प्रेमी को प्रेम, योगी को योग, शक्तिहीन को शक्ति और निर्बल को बल प्रदान करने में रोना ही समर्थ है।

सच्चा तप—जिससे निर्बलता न रहे, वही सच्चा तप है, जो आगे पीछे का चिन्तन न करने पर प्राप्त होता है, क्योंकि व्यर्थ चिन्तन मिट जाने पर मन अविषय हो जाता है । अविषय होते ही अनन्त शक्ति से सम्बन्ध होता है । उससे आवश्यक शक्ति लेकर कर्ता निर्बलता का अन्त कर देता है, जो वास्तव में तप का

फल है। इस दृष्टि से आगे पीछे का चिन्तन न करना तथा एक समय में एक ही कार्य करना सच्चा तप है।

परम धन—व्याकुलता ही परम धन है, जिसे यह मिल जाता है, वह सब कुछ पा लेता है।

निर्बल—निर्बल वही है, जिसका बल संसार की सहायता पर जीवित है। यदि सबल होना चाहते हो, तो संसार की सहायता का त्याग कर दो।

सच्चा भजन—व्याकुलतापूर्वक स्मरण करना ही सच्चा भजन है, और उनकी रजा में राजी रहना ही परम भक्ति है।

सत्य का अनुभव—सत्य की अभिलाषा और सब अभिलाषाओं को मिटाकर अपने आप मिट जाती है। बस उसी काल में सत्य का अनुभव हो जाता है।

सत्य की अभिलाषा कीउत्पत्ति—यद्यपि सत्य की अभिलाषा स्वाभाविक है, परन्तु अस्वाभाविक अभिलाषाओं की आसक्ति के कारण छिप सी जाती है। अतः स्वाभाविक अभिलाषाओं का अन्त कर देने पर स्वाभाविक अभिलाषा जागृत होती है।

असत्य ज्ञान—मानी हुई सत्ताओं की स्वीकृति के आधार पर बुद्धि आदि का व्यापार ही असत्य ज्ञान है।

अभेद—किसी प्रकार की दूरी का शेष न रहना ही अभेद है।

नोट—अभेद जातीय सत्ता से होता है। गहराई से देखो विषयों में अत्यन्त आसक्ति होने पर भी प्राणी सुषुप्ति आदि में विषयों का त्याग करने को मजबूर होता है; क्योंकि विषयसत्ता से मानी

हुई एकता है, जातीय नहीं ! विषयी आनन्द का अभिलाषी होता है, क्योंकि आनन्द से उसकी जातीय एकता है । अतः उसका आनन्द से अभेद हो सकता है, विषय से नहीं । विषयी अविचार से शक्तिहीनता को आनन्द मान लेता है, यह उसकी बुद्धि का प्रमाद है ।

दुःख की निवृत्ति—किसी प्रकार की कमी का शेष न रहना ही दुःख की निवृत्ति है ।

नोट—यदि दुःख पूरा हो गया होता, तो जरूर मिट जाता । अतः अभी दुःख की कमी है । हृदय की दुर्बलता से दुःख अधिक मालूम होता है, है नहीं । जिस प्रकार जीवन की पूर्णता मृत्यु में अपने आप बदल जाती है, उसी प्रकार दुःख की पूर्णता आनन्द में बदल जाता है । दुःखरूप अग्नि सुखरूप लकड़ी को जलाने के लिये उत्पन्न होती है । देखो, लकड़ी न रहने पर अग्नि अपने आप शान्त हो जाती है । उसी प्रकार सुख न रहने पर दुःख अपने आप शान्त हो जाता है ।

आनन्द—सुख तथा दुःख का अभाव होने पर जो शेष रहता है, वही आनन्द है ।

नोट—सुख तथा दुःख बुद्धि आदि का विषय है, इसी कारण मिट जाता है । आनन्द निज स्वरूप है, इसी कारण नहीं मिटता ।

मन—वासनाओं के समूह का नाम ही मन है ।

नोट—सभी वासनाओं का अन्त करने पर मन मिट जाता है और फिर काम, क्रोध मोह आदि विकार शेष नहीं रहते । वासनाओं का अन्त यथार्थ ज्ञान से होता है । ज्ञान हृदय शुद्ध होने पर होता है । हृदय त्याग और प्रेम से शुद्ध होता है । शरीरादि

किसी वस्तु को अपना न समझना त्याग है और आनन्दघन भगवान् से किसी प्रकार की दूरी न रहना प्रेम है। त्याग होने पर प्रेम अपने आप आ जाता है।

प्रेम-पात्र से स्थायी संग—प्रेम-पात्र को कुछ लोग महात्माओं में देखते हैं, कुछ तीर्थ तथा मूर्तियों में, कुछ नाम, मंत्र, शास्त्रादि में और कुछ षट् चक्र, हृदय, शब्द आदि में देखते हैं। उन सभी महानुभावों का उससे संयोग होने पर वियोग अवश्य होता है, क्योंकि वे अपने को बचाकर रख लेते हैं, इसलिये स्थायी संग नहीं कर पाते। और जो अपने प्रेम-पात्र को अपने में अनुभव करते हैं, उनको वियोग का दुःख उठाना नहीं पड़ता। अपने से भिन्न कितना ही समीप क्यों न देखिये, फिर भी वियोग अवश्य होगा। अतः प्रेम-पात्र को अपने में अनुभव करने से उनसे स्थायी संग हो जाता है। प्रेम-पात्र को अपने से भिन्न में वही देखते हैं, जो विषयों की सत्ता का त्याग नहीं कर सकते। इसी कारण विषयी वेचारा प्रेम-पात्र की खोज करने के लिये संसार में भटकता है।

प्रेम-पात्र--जिसके बिना प्रेमी किसी प्रकार भी नहीं रह सकता वही प्रेम-पात्र है। गहराई से देखो, जिनके बिना प्रेमी किसी भी प्रकार रह सकता है, वह प्रेम-पात्र नहीं है, क्योंकि त्याग उनका होता है, जिनसे मानी हुई एकता होती है। शरीर आदि सभी का त्याग हो जाता है; क्योंकि इनसे मानी हुई एकता है। जिसको शरीर आदि की सभी अवस्थाओं का अनुभव है,

वह अनुभव-स्वरूप नित्य-सत्ता ही प्रेमी का प्रेम-पात्र है, क्योंकि नित्य की अभिलाषा ही प्रेमी का स्वरूप है। अतः प्रेम-पात्र की अभिलाषा का नाम ही प्रेमी है, क्योंकि प्रेम-पात्र का अनुभव होने पर प्रेमी की सत्ता शेष नहीं रहती। किसी भी प्रेमी ने प्रेमी बन कर प्रेम-पात्र नहीं देखा, क्योंकि प्रेम-पात्र के वियोग में प्रेमी होता है। प्रेम-पात्र वही है जो प्रेमी को देखता है।

अक्रियता—किसी प्रकार की कामनाओं का शेष न रहना ही अक्रियता है, क्योंकि आप्तकाम अक्रिय होता है। आवश्यक कामनाओं की पूर्ति और अनावश्यक कामनाओं की निवृत्ति होने पर आप्तकाम हो जाता है।



पत्र-पुष्प

सत्य की खोज

१—सत्य का स्वरूप क्या है ?

२—सत्य की आवश्यकता क्यों है ?

३—सत्य की प्राप्ति का साधन क्या है ?

४—सत्य का अधिकारी कौन है ?

सत्य की खोज करने वाले महानुभावों को चाहिये कि ऊपर लिखे प्रश्नों का विचारपूर्वक उत्तर समझलें।

(१) सत्य का स्वरूप क्या है ?

यदि इस पर विचार किया जाय, तो यही मालूम होता है कि सत्य का वास्तविक स्वरूप अनुभव करने के लिये असत्य का स्वरूप जान लेना परम आवश्यक है, क्योंकि जिसे रात्रि का ज्ञान नहीं होता, उसको भला दिन का ज्ञान किस प्रकार हो सकता है ? अतः असत्य का यथार्थ ज्ञान होने पर ही सत्य का अभिलाषी सत्य को जान सकेगा। जो असत्य को नहीं जान सकता, वह सत्य को भी नहीं जान सकता। संसार का सभ्य समाज गुणों को सत्य और दोषों को असत्य कहता है, क्योंकि दोषों पर गुण शासन करते हैं—जैसे स्थिरता चंचलता पर, सदाचार दुराचार पर, योग भोग पर, प्रेम द्वेष पर, त्याग राग पर, संयम असंयम पर, आनन्द दुःख पर, चैतन्य जड़ पर और अहिंसा हिंसा पर। यदि यह विचार किया जाय कि गुण दोषों पर क्यों शासन करते हैं, तो इसका उत्तर यही होगा कि गुण

दोष की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक हैं। जिस प्रकार आँख का देखना यदि स्वाभाविक ही रहे, अर्थात् उस क्रिया में कर्त्ता किसी प्रकार का भाव न बनाये, तो फिर देखना कभी दोष नहीं कहा जाता। वह दोष तब बनता है, जब देखे हुए रूप से सुख प्राप्त करने की अभिलाषा उत्पन्न होती है। यद्यपि सुख मिल नहीं सकता, परन्तु अविचार के कारण बेचारी आँख रूप में सुख की खोज करती है, इसलिये अन्त में दुःखी होती है और जिससे दुःख हो वही दोष है। इसलिये इन्द्रियों की स्थिरता हो जाने पर चंचलता मिट जाती है। देखो, उस व्यक्ति को फिर संसार आदर की दृष्टि से देखता है और जो इन्द्रियों का संयम नहीं कर सकता, उसको संसार निरादर के भाव से देखता है। इसी नियम के अनुसार प्रत्येक गुण प्रत्येक दोष पर विजय प्राप्त कर लेता है। संसार को गुणयुक्त जीवन की सर्बदा आवश्यकता रहती है। यदि संसार में गुणयुक्त जीवन व्यतीत करना हो तो गुणों का संग्रह करना परम आवश्यक है, यद्यपि सत्य का वास्तविक स्वरूप गुण और दोष दोनों से परे है, क्योंकि गुणों के आ जाने पर भी कमी शेष रहती है। अतः जो सब प्रकार से पूर्ण है, अर्थात् जिसमें किसी प्रकार का दोष नहीं, वही सत्य का स्वरूप है। सत्य के स्वरूप का कथन नहीं किया जा सकता, बल्कि उसका स्वयं अनुभव किया जा सकता है, क्योंकि कथन करने वाले सभी साधन अपूर्ण हैं। अपूर्ण कभी पूर्ण का कथन नहीं कर सकता। सत्य का स्वरूप व्यक्तित्व से अतीत है। सत्य अपने आपको प्रकाशित करता है। यदि कहा जाय कि गुणों के आ जाने पर

कमी क्यों शेष रहती है, तो इसका उत्तर यही होगा कि गुण भी एक प्रकार की प्रवृत्ति है और गुणों का उपभोग करने के लिये दूसरे अनेक प्रकार की वस्तुओं की आवश्यकता होती है। यदि किसी में दोष न हो, तो फिर गुणों के अभिमानी का गौरव कुछ अर्थ नहीं रखता, अर्थात् गुणों का जो कुछ मूल्य है, वह दोषों की कृपा पर है। यह सभी महानुभावों का अनुभव होगा कि कोई भी प्रवृत्ति स्थिर अर्थात् नित्य नहीं है, और नित्यता का न होना महान् दोष है। अतः गुणों के आ जाने पर भी कमी शेष रहती है। विचारदृष्टि से देखो, कि यदि दया का गुण है, तो उसकी पूर्ति के लिये दीन की आवश्यकता है, अर्थात् किसी भी गुण का स्वतन्त्र उपभोग नहीं किया जा सकता। यद्यपि संसार में गुणों का उपभोग करने के लिये सदैव सामग्री उपस्थित रहती है, परन्तु जब संसार की कोई भी अवस्था किसी भी काल में स्थिर नहीं रहती तो फिर गुणों का उपभोग करने वाला किस प्रकार स्थिरता पा सकता है ?

(२) सत्य की आवश्यकता क्यों है ?

यदि इस पर विचार किया जाय तो यही उत्तर होगा कि आवश्यकता उस वस्तु की होती है, जिसके बिना किसी प्रकार न रह सकें। सभी महानुभाव स्थायी प्रसन्नता चाहते हैं। जब संसार की कोई अवस्था स्थाई प्रसन्नता नहीं दे पाती, तो उसका अभिलाषी संसार का त्याग करने के लिये मजबूर हो जाता है। यदि विचारशील पुरुष अपनी अभिलाषाओं की जाँच करें, तो उनको यह भली प्रकार मालूम हो जायगा कि अभिलाषाएँ केवल दो प्रकार की होती हैं—एक शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति के लिये और

दूसरी सब प्रकार से पूर्ण होने के लिये। शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति के लिये कर्म तथा संसार की आवश्यकता होती है। संसार तथा कर्म की सहायता से पूर्णता किसी प्रकार नहीं मिल सकती, क्योंकि संसार की कोई भी अवस्था पूर्ण नहीं है। जिस प्रकार गोल चक्र में चलने वाला पथिक कभी मार्ग का अन्त नहीं पाता, उसी प्रकार संसार की ओर जाने वाला कभी शान्ति तथा पूर्णता नहीं पाता। अतः स्थायी प्रसन्नता तथा पूर्णता के लिये सत्य की आवश्यकता होती है।

(३) सत्य की प्राप्ति का साधन क्या है?

इस प्रश्न का उत्तर यही होगा कि सद्भावपूर्वक सत्य की अभिलाषा ही सत्य का मार्ग है। जिस प्रकार बड़ी मछली सब छोटी मछलियों को खाकर स्वयं मर जाती है, उसी प्रकार सत्य की अभिलाषा सभी अभिलाषाओं को मिटाकर अन्त में अपने आप मिट जाती है। बस, उसी काल में सत्य का अनुभव हो जाता है। सत्य की प्राप्ति के लिये किसी संगठन की आवश्यकता नहीं, बल्कि सभी संगठन मिटाने होंगे। यदि कहा जाय कि सत्य की अभिलाषा किस प्रकार उत्पन्न होती है, तो इसका उत्तर यही होगा कि आपने अपने को जिस कल्पना में बाँध लिया है, उसके अनुसार कर्म करो और अनावश्यक कार्यों का त्याग करो। आवश्यक कार्य पूरा होने पर सत्य की अभिलाषा स्वयं उत्पन्न होगी। जो आवश्यक कार्य पूरा नहीं करते और अनावश्यक कार्यों को हृदय में इकट्ठा रखते हैं, उनको सत्य की अभिलाषा सद्भावपूर्वक उत्पन्न हो, ऐसी फुर्सत नहीं मिलती। वे बेचारे आगे पीछे का व्यर्थ चिन्तन करते रहते हैं। यदि यह कहा जाय कि आवश्यक कार्य क्या

है, तो इसका उत्तर यही होगा कि जिस कार्य के बिना न रह सको, जिसे करने का साधन प्राप्त हो तथा जिसके करने में किसी प्रकार का भय न हो, वही आवश्यक कार्य है। कर्त्ता अपने कर्त्तव्य का पालन करने पर स्वयं उन्नति कर जाता है। अतः उन्नति के लिये निराश होना परम भूल है। जीवन की परि-स्थिति चाहे जैसी क्यों न हो, सत्य के अनुभव के लिये सभी मनुष्य समर्थ हैं। विचारदृष्टि से देखो, जिस प्रकार राजा का सम्बन्ध राज्य की सभी वस्तुओं से है, उसी प्रकार सत्य का सम्बन्ध सभी से है। जो अपने बनावटी स्वभाव को मिटा देता है, सत्य का अनुभव कर लेता और जो अपने स्वभाव को नहीं मिटाता या नहीं मिटा पाता, वह सत्य को किसी प्रकार नहीं पा सकता। सत्य संसार की सहायता से नहीं मिल सकता। यदि गुणों का अभिमानी अपने गुणाभिमान को नहीं मिटा सकता, तो वह सत्य को नहीं पा सकता। यदि महान् पतित अपने पतित स्वभाव को मिटा देता है, तो वह सत्य को पा लेता है। यद्यपि संसार की दृष्टि से गुणयुक्त जीवन सर्वदा पूजनीय है, तथापि गुणों के अभिमान के कारण मनुष्य सत्य से विमुख रहता है। यह भली प्रकार समझ लो कि जिसे संसार किसी प्रकार प्रसन्नता नहीं दे पाता, वह भी सत्य को पाकर अपार आनन्द पाता है। संसार का कोई व्यक्ति अपने प्यारे से प्यारे को अपने समान नहीं बना सकता, जिस प्रकार कोई भी राजा किसी को राजा नहीं बना सकता; परन्तु सत्य का अभिलाषी सत्य को पाकर सत्य के साथ अभिन्न हो जाता है। व्यक्तित्व की गुलामी का त्याग ही सत्य का साधन है।

यदि यह कहा जाय कि व्यक्तित्व की गुलामी का त्याग किस प्रकार किया जाय, तो इसका उत्तर यही होगा कि जो अपने व्यक्तित्व को मिटा देता है,उसे फिर किसी भी व्यक्ति की गुलामी की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि व्यक्तित्व को ही व्यक्ति की आवश्यकता होती है। यदि यह कहा जाय कि व्यक्तित्व किस प्रकार मिटाया जाय, तो इसका उत्तर यही होगा कि मिटाई वही वस्तु जाती है जो वास्तव में न हो, अर्थात् जिसका कोई स्वरूप न हो, परन्तु अविचार के कारण प्रतीत होता हो। देखो, आप अपने में जो व्यक्तित्व अनुभव करते हैं, क्या आपने उसे कभी देखा है ? तो आप यह कहने के लिये मजबूर हो जायेंगे कि हमने अपने व्यक्तित्व को सुनकर स्वीकार कर लिया है,देखा नहीं। यदि यह कहो कि शरीर का व्यक्तित्व तो देखने में आता है तो उसका उत्तर यही होगा कि शरीर तो संसार से अभिन्न है, उसमें आपका क्या ? विचारदृष्टि से देखो, कि जिस शरीर को आप अपना समझते हैं, वह वास्तव में सारे संसार से एक है, क्योंकि शरीर तथा संसार अंग तथा अंगी के समान हैं। अंग तथा अंगी में स्वरूप से एकता तथा माना हुआ भेद होता है। जिस प्रकार भारतवर्ष के अनेक प्रान्त भारतवर्ष से अभिन्न हैं,उसी प्रकार शरीर संसार से अभिन्न है। अतः सुने हुए व्यक्तित्व को विचाररूपी अग्नि में जला दो। व्यक्तित्व के मिटते ही गुलामी का अन्त हो जायगा और सत्य का मार्ग दिखाई देगा। सत्य का मार्ग इतना संकीर्ण है कि सत्य का अभिलाषी स्वयं अकेला ही जा सकता है, यहाँ तक कि मन, बुद्धि आदि तक का साथ छोड़ना होगा, क्योंकि संगठन का मिटाना ही सत्य का साधन है।

(४) सत्य का अधिकारी कौन है ?

जिसको प्रसन्नता देने के लिये संसार असमर्थ है, अर्थात् जिसको भोग में रोग, हर्ष में शोक, संयोग में वियोग, सुख में दुःख, घर में बन, जीवन में मृत्यु का अनुभव होता है, वही सत्य का अधिकारी है। विचारदृष्टि से देखो, भोग करने से शक्तियों का ह्रास होता है। शक्तियों का ह्रास होने पर रोग बिना बुलाये आ जाता है; तब फिर भोग का कर्त्ता भोग करने के लिये असमर्थ हो जाता है। ऐसी अवस्था आने पर भोग से जो हर्ष हुआ था, उससे कहीं अधिक शोक आ जाता है। इसी दृष्टि से विचारशील हर्ष में शोक का अनुभव करते हैं। चाहे कैसा ही सुन्दर भोग क्यों न हो तथा समाज के भी नियम के अनुकूल हो और भोगने की शक्ति भी हो, फिर भी शक्तिहीनता होनी अनिवार्य है। देखो, योग से शक्तियों का विकास होता है तथा भोगने से विनाश होता है। योग और भोग में केवल यही अन्तर है कि भोग के लिये शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि विषयों से सम्बन्ध होता है और योग के लिये विषयों का त्याग कर विषयातीत अनन्त सत्य से सम्बन्ध होता है। योग और ज्ञान में केवल यही भेद रहता है कि योगी योगाभिमान के कारण परम-तत्व से अभिन्न नहीं हो पाता, इसलिये योगी में अनेक प्रकार की अद्‌भुत शक्तियाँ उद्‌भासित हो जाती हैं। भोग का अभाव होने पर योग अपने आप आ जाता है। योग स्वतन्त्र तथा भोग परतन्त्र है, क्योंकि योग के लिये संसार की ओर नहीं देखना पड़ता। जिस प्रकार फलों की फसल खरीदने के लिये केवल फलों का दाम देते हैं और छाया बिना मूल्य ही मिलती है, उसी प्रकार ज्ञान होने पर योग स्वयं हो जाता है,

यद्यपि ज्ञाननिष्ट पुरुष को योग की कोई आवश्यकता नहीं रहती, तथापि असंगता के कारण योग अपने आप होता है। अतः जिसे योग और भोग शान्ति नहीं दे पाते, वही सत्य का अधिकारी है।



राग तथा द्वेष आदि सभी विकार शरीर के संग से होते हैं, यद्यपि शरीर से एकता हो नहीं सकती। एकता उसी वस्तु से होती है जिससे स्वरूप से भिन्नता न हो। भिन्नता होने पर जो एकता मालूम होती है वह वास्तव में एकता है नहीं। प्रिय !····जब आपको यह मालूम हो गया कि मैं शरीर नहीं हूँ, तो फिर क्या हूँ ? इस पर आपने बिचार नहीं किया। अब यह विचार करो कि मैं क्या हूँ ? देखो, जब आप कहीं बाहर घूमने जाती हैं, तब आपको अपने घर की याद आती है और याद आते ही आप अपने घर से दूर होते हुए भी घर को देखती हैं। आपको अपने माता, पिता तथा भाई की भी याद आने लगती है। जिन-जिन चीजों की याद आती है, उनका स्वरूप भी मालूम होने लगता है और उनके मिलने से जो आपको रस-सुख उत्पन्न होता है, उसको अपना मन चाहता है। उसी प्रकार आप अपने निज स्वरूप से अलग होकर शरीर तथा संसाररूपी जंगल में खेलने आयी हैं, यह स्थान आपके खेलने का नहीं है। इसलिये आप शरीररूपी गाड़ी को छोड़ कर अपने परम-धाम को जाना चाहती हैं, परन्तु आपको रास्ता नहीं मिलता। थके हुए पथिक के समान कभी-कभी सुख का अनुभव कर लेती हो। जिनको आप अपने माता, पिता तथा बन्धु कहती हैं, वे इस जंगल के कटीले वृक्ष हैं। जैसे कटीले

वृक्षों पर मीठे बेर लगते हैं, उसी तरह माता पिता आदि के संग कभी-कभी सुख मालूम होता है। आपकी वास्तविक रुचि तो अपने आनन्दघन धाम की है। आप अपनी रुचि को पहिचानो तो आप अपने को जान सकोगी। देखो, आप दुःख नहीं चाहतीं, अर्थात् आनन्द चाहती हो और जानने की कमी को भी पसन्द नहीं करतीं, अर्थात् ज्ञान चाहती हो, मरने से भी आपको भय मालूम होता है, अर्थात् हमेशा रहना चाहती हो, यह आपकी रुचि आपको यही बतलाती है कि आप सत्य को चाहती हैं, क्योंकि जो सत्य है उसमें ही अनन्त ज्ञान है, उसमें ही आनन्द है। आपने यह समझ कर कि 'मैं लड़की हूँ', अपने निजस्वरूप को भुला दिया है, इसलिये आपका सम्बन्ध शरीर से हो गया है। यदि आप शरीर से सम्बन्ध नहीं रखना चाहतीं, तो बार-बार यह भावना करो कि 'मैं लड़की नहीं हूँ',बल्कि सत्-चित् आनंद-घन हूँ। जब यह भाव स्थायी हो जायगा तब 'मैं लड़की हूँ' यह भाव मिट जायगा। इस भाव के मिटते ही आपको निज-स्वरूप का अनुभव होगा। यह भाव मिटा दो कि 'मैं अबोध बालिका हूँ' बल्कि यह भाव करो कि 'मैं शुद्ध-बोध स्वरूप हूँ' जब आप ज्ञान के लिये और किसी को पसन्द न करेंगी, तब आपको ज्ञान अपने में मिल जायगा। देखो जिस प्रकार आप दर्पण में अपने मुख को देखती हैं, उसी प्रकार महात्माओं तथा किताबों में आप अपने शुद्ध ज्ञान को देखती हैं। संसार में जो कुछ आनन्द की झलक है वह आपकी है। आपकी सत्यता से संसार सत्य सा तथा आपकी चैतन्यता से संसार चैतन्य सा प्रतीत होता है। देखो, जिस प्रकार तीन कोनेवाला लोहे का

टुकड़ा अग्नि के संग से अग्नि जैसा मालूम होता हैं, साधारण जानने वाला यही कहेगा कि अग्नि तिकोनी है, परन्तु वास्तव में अग्नि कभी त्रिकोण नहीं होती और लोहा कभी अग्नि नहीं होता, अग्नि के संसर्ग से लोहा अग्नि और लोहे के सम्बन्ध से अग्नि त्रिकोण मालूम होती है। उसी प्रकार आपके सम्बन्ध से शरीर चैतन्य मालूम होता है और शरीर के सम्बन्ध से आप अपने को अबोध बालिका कहती हो। अब यह भाव मिटा दो कि 'मैं अबोध बालिका हूँ'।



जो प्राणी आनन्दघन भगवान् के वास्तविक स्वरूप तथा अलौकिक गुणों को जान लेता है, वह शरणागत होने के लिये बाध्य हो जाता है। शरणागत होने पर फिर और कुछ भी करना शेष नहीं रह जाता। यह भक्तियोग का अन्तिम साधन है। शरणागति जीवन में केवल एक बार होती है। जिस प्राणी को अपने व्यक्तित्व का कुछ भी अभिमान नहीं रहता, वही शरणागति के रस को चख सकता है। यह रस अत्यन्त मधुर तथा परम पवित्र है। कामनायुक्त प्राणी शरणागत नहीं हो सकता। यह सभी जानते हैं कि विषयों से अरुचि, अर्थात् भोग-वासनाओं का अन्त होने पर शरीर तथा संसार की सभी परिस्थितियाँ व्यर्थ तथा निरर्थक हो जाती हैं, संसार का मूल्य कुछ भी नहीं रहता, समानता स्वाभाविक आ जाती है और फिर वह प्राणी शरणागत होने का अधिकारी हो जाता है। शरणागति के अधिकारी को प्रियतम की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती, वरन् वे स्वयं उसकी प्रतीक्षा करते रहते हैं।

विषयों से अरुचि तो स्वाभाविक होती है और द्वेष प्रयत्न से। जब तक विषयों से द्वेष रहता है तब तक ही विषयी प्राणियों से घृणा करता है और जब तक उसका विषयों से राग होता है, तब तक ही उसकी प्राणियों से प्रीति होती है। प्रीति तथा घृणा दोनों ही मन में विकार तथा अहंकार को जीवित रखती हैं। विषयों से अरुचि होने पर प्रीति तथा घृणा नहीं रहती। ऐसे विचारशील को ही संसार का तत्व-ज्ञान होता है। उसका किसी व्यक्ति के प्रति राग-द्वेष नहीं रहता, अर्थात् सभी व्यक्तियों से पूर्ण असंगता होती है। उसके हृदय में शुद्ध प्रेम के अतिरिक्त कुछ नहीं रहता। यह भली प्रकार समझ लो कि प्रेम किसी व्यक्ति से नहीं होता, व्यक्तियों से तो राग-द्वेष ही हो सकता है और त्याग भी किसी व्यक्ति-विशेष का नहीं होता। त्याग कुल संसार का और प्रेम जो संसारातीत है, उससे होता है, अथवा त्याग शरीर का और प्रेम जो शरीर से परे है, उससे होता है।

जो प्राणी बड़े-बड़े भोगों को प्राप्त करना चाहता है,उसको शुभ कर्मों में प्रवृत्ति होती है। यद्यपि वर्तमान में बड़ा तप तथा त्याग करता है, किन्तु उसका विषयों से राग निवृत्त नहीं होता। शुभ-कर्मवादी स्थूल ससार का त्याग नहीं कर सकता और न स्थूल शरीर की गुलामी से छट सकता है। जो प्राणी ऊँचे-ऊँचे लोक लोकान्तरों की अभिलाषा करता है, वह भी विषयों से पार नहीं पाता। वह यद्यपि स्वर्गादिक भोगों का त्याग करता है, फिर भी बेचारा विषयों से छट नहीं पाता। उस प्राणी को स्थूल शरीर का संग करने की तो आवश्यकता नहीं रहती, परन्तु सूक्ष्म शरीर का संग तो करना ही पड़ता है, अर्थात् वह

भावनाओं के द्वारा अपने प्रेम-पात्र के लोक को गमन करता है।

जो प्राणी लोक-लोकान्तर की अभिलाषाओं का त्याग कर देता है, परन्तु समाधि-जन्य आनन्द का त्याग नहीं करता, वह भी बेचारा विषयों से छूट नहीं पाता। यद्यपि उसका किसी वस्तु से सम्बन्ध नहीं होता, परन्तु जो सभी वस्तुओं का कारण है, उस अनन्त शक्ति से तो उसका सम्बन्ध रहता ही है और उसे कारण शरीर का संग करना पड़ता है।

शरणागत होने पर सभी शरीरों से और विषयों से सम्बंध छूट जाता है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं। जिस व्यवहार में लेशमात्र भी संकोच हो, उसे मत करो, अचिन्तन तथा निभयता अपना स्वभाव बना लो। किसी प्रकार का भी चिन्तन न होने दो, यदि आ जाय तो विचारपूर्वक त्याग कर दो। कोई भी काम जमा न रक्खो। आनन्द आपकी प्रतीक्षा करता है, उससे भूल कर भी निराश मत होओ।



३ दिसम्बर १९४१

सत्य का अनुभव असत्य के त्याग से होता है। त्याग वर्त्तमान में और कर्म भविष्य में फल देता है। कर्म से संसार में बड़े से बड़े पद प्राप्त हो सकते हैं, परन्तु सत्य का अनुभव किसी प्रकार नहीं हो सकता। यद्यपि संसार में किसी काल में भी स्वरूप से एकता नहीं होती, सिर्फ मानी हुई एकता के आधार पर संसार का अनुभव करते हैं। मानी हुई एकता विचार-पूर्वक त्याग करने से मिट जाती है, क्योंकि स्वरूप से होती

नहीं और उसी काल में फिर स्वयं सत्य का अनुभव हो जाता है। त्याग करने के लिये कर्त्ता सर्वकाल में स्वतन्त्र है, क्योंकि जो करना चाहिये उसकी शक्ति कर्त्ता में सर्वकाल विद्यमान रहती है। कर्त्तव्य पूरा करने पर कर्त्ता का अन्त हो जाता है। कर्त्ता का अन्त होते ही अपने आप सत्य का अनुभव हो जाता है। सच्चा समर्पण जीवन में एक बार होता है और फिर कुछ भी करना शेष नहीं रहता।

इच्छा रहित होने पर व्यक्तित्व का अभिमान गल जाता है, अर्थात् फिर अपने से बड़ा तथा छोटा कोई दिखलाई नहीं देता और फिर हृदय आनन्द भर जाता है और सुख तथा दुःख की अग्नि सदा के लिये शान्त हो जाती हैं, इसमें कुछ भी संदेह नहीं।

इच्छाओं का कम हो जाना कुछ भी अर्थ नहीं रखता, क्योंकि जिस प्रकार एक बीज में अनन्त वृक्ष छिपे रहते हैं, उसी प्रकार एक इच्छा में अनन्त इच्छाएँ छिपी रहती हैं। गहराई से देखो, इच्छाओं का मूल आधार स्वरूप का प्रमाद अर्थात् अज्ञान है, जो संसार की प्रतीति का कारण है। यह सभी जानते हैं कि कारण से कार्य भिन्न नहीं होता।

---

१५ दिसम्बर १९४१

आपका कर्तव्य वही है, जो आप कर सकते हैं। जो आप नहीं कर सकते, वह आपका कर्त्तव्य नहीं है। कर्त्तव्य पालन करने पर वही मिल जाना चाहिये, जो आप चाहते हैं। मिटाने की अभिलाषा उसी वस्तु की होती है, जो मिट सकती

है और पाने की अभिलाषा उसी वस्तु की होती है, जो मिल सकती है। मिट वही सकती है जो स्वरूप से न हो और मालूम होती हो। मिल वही सकती है, जो स्वरूप से हो और मालूम न होती हो। मिटाना उसी को चाहते हैं, जिसकी आवश्यकता न हो और प्राप्त उसी को करना चाहते हैं, जिसकी आवश्यकता न हो और प्राप्त उसी को करना चाहते हैं जिसकी आवश्यकता होती है। अज्ञान को मिटाने की और ज्ञान को पाने की आपने अपनी रुचि प्रकट की है। अज्ञान यदि स्वरूप से होता तब तो न तो मिटाने की रुचि होती और न मिट सकता था। मिटाने की रुचि होती है, इसलिये यह भली प्रकार समझ लो कि अज्ञान स्वरूप से कोई वस्तु नहीं है, सिर्फ मानी हुई वस्तु है। मानी हुई वस्तु अविचार के आधार पर प्रतीत होती है और विचार से मिट जाती है। आपने विचार करने की शक्तिहीनता भी लिखी है, परन्तु यह आपके दिमाग की बात है, हृदय की नहीं। जो प्राणी अपने हृदय में निर्बलता का अनुभव करता है, उसको बड़ी व्याकुलता होती है, क्योंकि अपनी दृष्टि से अपने को निबल अनुभव करते ही सबसे अधिक दुःख होता है। दुःखी की विचार करने की शक्ति स्वयं जाग्रत हो जाती है। दुःखी की कमी उसी समय तक रहती है, जब तक प्राणी अपनी दृष्टि से अपने में कमी का अनुभव नहीं करता। प्यारे, करने की शक्ति का अन्त होने पर तो सिद्ध अवस्था प्राप्त होती है, क्योंकि जो 'कुछ नहीं करता' वह सबसे बड़ा है, यहाँ तक कि वह ईश्वर का भी ईश्वर तथा गुरुओं का गुरु, प्रेमियों का प्रेम, ज्ञानियों का ज्ञान, अर्थात् सबका सब कुछ है। कुछ न करने के लिये ही सब कुछ किया जाता हैं। यदि करने

की शक्ति न होती, तो कुछ अभिलाषा भी न होती। जिसमें अभिलाषा होती है उसमें करने की शक्ति अवश्य होती है। अब विचारदृष्टि से देखो, आपको कभी भी गवर्नर होने की अभिलाषा नहीं होती; परन्तु आनन्द पाने की अभिलाषा अवश्य होती है। गवर्नर होने की अभिलाषा इसलिए नहीं होती कि उसके साधन आपके पास विद्यमान नहीं हैं। आनन्द पाने के साधन आप में विद्यमान हैं, इसलिए आनन्द पाने की अभिलाषा आपको होती है। अतः आनन्द से निराश होना परम भूल है। आनन्द आपकी प्रतीक्षा कर रहा है। आप एक बार उसकी ओर देखिये तो सही। ऐसा करते ही आप उसके और वह आपका हो जायगा, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। जिसको देखना आता है, वह अपनी रुचि के अनुसार इधर से उधर देख सकता है। वह संसार से विमुख होकर आनन्द की ओर देख सकता है। जो राग-द्वेष कर सकता है। वह त्याग-प्रेम भी कर सकता है। अतः यह बात बिल्कुल भूल जाओ कि 'मैं कुछ नहीं कर सकता'। आप अपनी सद्भावपूर्वक की हुई सभी अभिलाषाओं को पूर्ण करने में सर्वदा समर्थ हैं।

---

४ जनवरी १९४१

'कुछ न करना' अथवा 'सब कुछ करना' इन दोनों का अर्थ एक है, परन्तु 'कुछ' करने से बड़ी अवनति होती है, क्योंकि कुछ करने से 'कुछ' की ओर जाना पड़ता है, जो 'सब कुछ' से विमुख कर देता है। 'कुछ न' होने पर तो 'सब कुछ'

मिल जाता है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। सच्ची शक्ति-हीनता होते ही अनन्त शक्ति बिना बुलाये आ जाती है, अथवा बिना माँगे मिल जाती है, क्योंकि सीमित शक्तियों का अभाव होते ही असीम शक्ति से संग हो जाता है। अपनी कमी का ज्ञान होना बड़े सौभाग्य की बात है। कमी का ज्ञान होने पर कमी से और संसार का ज्ञान होने पर संसार से सम्बन्ध नहीं रहता, क्योंकि अनुकूलता का ज्ञान होने पर संग और प्रतिकूलता का ज्ञान होने पर असङ्ग स्वयं हो जाता है। 'कुछ नहीं' कर सकते तो कोई बात नहीं, किन्तु 'करने' की अभिलाषा भी मत करो, क्योंकि प्रेमी की चाह को प्रेम-पात्र भली प्रकार जानता है। उनके दरवाजे की ओर देखने के सिवा भला प्रेमी कर भी क्या सकता है ? क्योंकि बेचारे प्रेमी के लिये तो और सभी दरवाजे बन्द हो जाते हैं। उनके दरवाजे का भिखारी भिखारी नहीं रहता, बल्कि वही हो जाता है। प्यारे, प्रेम-पात्र का संग कर अचिन्त हो जाओ और सर्वदा अभय रहो। स्मरण, चिन्तन, ध्यान तथा सज्जनता के आधार पर जीवित रहना बेकार है।

सन्त-वाणी

८ जनवरी १९४१

प्रेम-पात्र का संग कर अचिन्त हो जाओ और सर्वदा अभय रहो। स्मरण, चिन्तन, ध्यान तथा सज्जनता के आधार पर जीवित रहना प्रेम का अधूरापन है, जो किसी भी प्रेमी को शोभा नहीं देता। चिन्तन, ध्यान आदि अथवा संग

में बड़ा भेद है। ध्यान आदि से माना हुआ अहंभाव दब जाता है और संग से मिट जाता है, क्योंकि चिन्तन, ध्यान आदि से कुछ न कुछ दूरी अवश्य रहती है और सङ्ग से किसी प्रकार की दूरी तथा भेद नहीं रहता। चिन्तन, ध्यान आदि अनेक बार करना पड़ता है और सङ्ग सिर्फ एक बार करना पड़ता है, अर्थात् फिर करने का अन्त हो जाता है। जब प्राणी सज्जनता का अभिमानी (अर्थात् साधन जनित सुख में आसक्त) होकर अपने जीवन को संतोषजनक पाता है, तब चिन्तन ध्यान आदि करता है और उस जीवन (अर्थात् अवस्था से अरुचि होने पर प्रेम-पात्र के समर्पित हो उससे संग करता है; जिसके होते ही प्रेमी प्रेम होकर प्रेम-पात्र से अभिन्न हो जाता है, बस यहीं संग और चिन्तन ध्यान आदि में भेद है। जीवन का स्वरूप क्या है, यह भली प्रकार यथार्थ जान लेने पर जीवन से अरुचि अपने आप हो जाती है। गुणयुक्त जीवन से सुख तथा दोषयुक्त जीवन से दुःख जीवन के अभिमानी को ही होता है—यह सभी जानते तथा मानते हैं परन्तु इतने ही से जीवन के वास्तविक स्वरूप का बोध नहीं होता। सुखी जीवन से भी दूसरों को दुःख होता है। यह बात सुनने में तो अजीब सी मालूम होती है, परन्तु विचारदृष्टि से देखिये कि दुःख का जन्म कब होता है? जब प्राणी अपने से किसी विशेष व्यक्ति को सुखी देखता है, तब उसके हृदय में दुःख का जन्म होता है, क्योंकि यदि निर्धन को कोई धनी दिखाई न दे, तो निर्धनता का दुःख कुछ नहीं होता। अतः सुखी जीवन ने दुःख को जन्म दिया। सुखी जीवन न तो दूसरे को सुखी बना सकता है, न दूसरे की

उन्नति कर सकता है। पूर्ण दुखो (अधूरा दुखी नहीं) अपनी उन्नति तथा दूसरे को सुख प्रदान करने के लिए सर्वथा समर्थ है, क्योंकि दुखियों के बिना सुखियों की सत्ता कुछ नहीं रहती। इस दृष्टि से प्यारा दुखी पूजन करने के योग्य है। दुखियों का पूजन करने पर, जीवन की दोषरहित अवस्था में भी दुःख का अनुभव हो जाता है, जो उन्नति का मूल है। पूर्ण दुःख होने पर दोषयुक्त जीवन का अन्त हो जाता है। अधूरा दुःख अर्थात् सुख की आशा के आधार पर दोष युक्त जीवन जीवित रहता है। दोषयुक्त प्राणी अपने को दुखी करता है तथा दूसरे को भी दुखो करता है, और गुण,युक्त प्राणी अपने को सुखी करता है तथा दूसरे को दुखी करता है। इस दृष्टि से गुणयुक्त प्राणी दोषयुक्त प्राणी की अपेक्षा श्रेष्ठ है, परन्तु गुणों का अभिमानी प्रेम-पात्र से विमुख अवश्य रहता है। विचार दृष्टि से देखो, सुखी जीवन से दूसरों को दुःख, दुखी जीवन से दूसरों को दुःख और मृत्यु से भी दूसरों को दुःख (मृत्यु भी जीवन की एक अवस्था है, क्योंकि मृत्यु से शरीर का सङ्ग नहीं छटता), इस दृष्टि से जीवन का स्वरूप क्या है ? केवल दुःख। इस प्रकार जीवन का स्वरूप जान लेने पर जीवन से अरुचि अवश्य हो जाती है। अरुचि होने पर शरीर तथा संसार से असंगता होती है, जो उन्नति का मूल है, क्योंकि किसी भी असगता से ही किसी का संग होता है। अतः प्रेम-पात्र का संग करो। प्रेम-पात्र वही है जो सर्वोत्कृष्ट है, अर्थात् जिसके समान दूसरा नहीं है। वह सभी प्राणियों का एक है, अनेक नहीं। उससे सङ्ग करने के लिए अभिलाषा होने पर सभी प्राणी समर्थ हैं, क्योंकि वह किसी का तिरस्कार नहीं करता। उसके सिवा दुखी को अपनाने के लिए सभी

असमर्थ हैं, अथवा यों कहो कि उससे भिन्न सभी दुःखी हैं। दुखो को दुखी कैसे अपनायेंगे ? अर्थात् नहीं अपना सकते। प्रेम-पात्र का संग न करना ही दुःख का मूल है, जो दुखी की अपनी भूल से हुआ है। दुखी का दुख उसी समय तक जीवित है जब तक अभागा दुखी सुख की आशा में सुखियों की ओर देखता है। सुख तथा सुखियों से असंग होते ही दुःख का सदा के लिये अन्त हो जाता है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है।

---

६ जनवरी १९४१

जीवन का सदुपयोग क्या है ? हृदय में जो अविचार के कारण दीनता तथा अभिमान की अग्नि जलती है उसका अन्त कर देना ही वास्तविक जीवन का सदुपयोग है। दीनता कब आती है ? जब अपने से किसी विशेष को देखते हैं। अभिमान कब आता है ? जब अपने से छोटा देखते हैं। छोटा बड़ा कब दिखाई देता है ? जब अपने को शरीर समझते हैं। अतः अपने को शरीर से ऊपर उठा लेना ही जीवन का सदुपयोग है। ऐसा करने से दुःख का अन्त हो जायगा, हृदय शुद्ध प्रेम से भर जायगा, सब कुछ अपने में ही अनुभव होगा, अपनी प्रसन्नता के लिए अपने से भिन्न किसी और की आवश्यकता न रहेगी और सारा विश्व अपनी अवस्था के सिवा और कुछ न रहेगा।

प्यारे, व्रज तो वास्तव में प्रेमी का हृदय है, क्योंकि उसमें ही प्रिया-प्रीतम निवास करते हैं। व्याकुलतापूर्वक प्यारे से मिलने की जो रुचि है, वही प्रिया का स्वरूप है और वह रुचि जिसमें विलीन हो जाती है, वही प्रीतम का स्वरूप है। प्रिया-प्रीतम का मिलन ही जीवन का परम लक्ष्य है।

---

६ जनवरी १९४१

उनकी कृपा पर निर्भर हो जाना भक्ति-भाव की दृष्टि से सर्वोत्तम साधन है। परन्तु उनके संग के बिना चैन से रहना परम भूल है। संग कैसे हो ? इस पर विचार करो। करना कब तक है ? जब तक करने की शक्ति है। करने की शक्ति मिटने पर संग, तथा सग होने पर करने की शक्ति मिट जाती है। करने का जन्म कब होता है ? जब किसी प्रकार की चाह (प्रेम-पात्र तथा ससार की) होती है। चाह कब तक होती है ? जब माने हुए स्वरूप पर विश्वास करते हैं। 'मैं भक्त हूँ, यह भी माना हुआ स्वरूप है, अथवा 'मैं स्त्री हूँ' 'मैं अमुक हूँ' यह सभी माने हुए स्वरूप हैं। वास्तव में 'मैं क्या हूँ' इसका पता लगाना है। माने हुए 'मैं' के अनुसार करने का भाव अपने आप उत्पन्न होता है। अहभाव के बदलने से कर्त्तव्य बदल जाता है और अहभाव के मिटने से कर्त्तव्य मिट जाता है। जबसे यह भाव हुआ कि 'मैं उनकी हूँ' तबसे उनकी कृपा का सहारा हो गया, परन्तु उनकी होकर उनसे दूर रहना प्रेम का अधूरापन है, जो प्रेमी को शोभा नहीं देता। चिन्तन, ध्यान, सज्जनता तथा भाव के रस के आधार पर उस मैं' को जीवित मत रक्खो, जो दौड़ता फिरता है। प्रेम-पात्र वही करते हैं, जो प्रेमी चाहता है, उनकी कृपा अभिलाषा की पूर्ति करती है। अभिलाषा का अन्त होने पर संग होता है। ध्यान आदि से समीपत्व होता है, एकता नहीं। एकता संग से होती है, संग माने हुए अहंभाव के मिटाने पर होता है। मिलना पतंग-दीपक-जसा और वियोग जल-मछली-जैसा होना चाहिये। वियोग का बढ़ा हुआ दुःख स्वयं योग हो

जाता है, क्योंकि बियोगी की सत्ता दुःख की अग्नि में जल जाती है।

जीवन की सुन्दरता स्वाधीनता में है, जो सभी से असंग होने पर मिलती है चिन्तन, ध्यान अनेक बार और संग एक बार होता है। संग होने पर करने का अन्त हो जाता है। वे करा रहे हैं, यह भी भाव नहीं रहता। यह हो रहा है, इसमें भी सद्भाव नहीं रहता। क्या होता है? वही जाने। क्या जानना है? जो अभिलाषा थी। अभिलाषा क्या थी? दुःख न हो। दुःख कब होता है? जब अपने से किसी विशेष को देखता है, अर्थात् संग होने पर अपने से भिन्न अपने प्रीतम को नहीं पाता। प्रीति-रस की दृढ़ता के लिए प्रेम-पात्र का वियोग आवश्यक था।

---

१४ जनवरी १९४१

जिस प्रकार खेत में अनेक प्रकार के बीज बोये जाते हैं, प्रत्येक बीज अपने स्वभाव के अनुसार खेत के स्वभाव का कथन करता है। यद्यपि सभी सत्य कहते हैं, किन्तु फिर भी एक दूसरे से भिन्नता मालूम होती है। उसी प्रकार अपनी-अपनी रुचि के अनुसार अनेक जिज्ञासु सत्य के स्वरूप का कथन करते हैं! अब सत्य एक है, तो ऐसा क्यों प्रतीत होता है? इस पर यदि विचार किया जाय तो यही मालूम होता है कि अपने स्वभाव के अनुसार सत्य के स्वभाव को देखते हैं, यद्यपि सत्य अनन्त प्रकार के स्वभाव की पूर्ति करते हुए भी स्वभाव से अतीत है। विचारदृष्टि से देखो, जैसे खेत मिर्च को चरपराहट और ईख को मिठास देता है,

यद्यपि खेत न मीठा है न चरपरा, वह तो सिर्फ ईख के मिठास की और मिर्च के चरपराहट की पूर्ति करता है, उसी प्रकार सत्य विषय-युक्त प्राणियों के स्वभाव के अनुसार प्रकट हो उसकी पूर्ति कर, उनको उस स्वभाव से ऊपर उठा, अपने अनन्त स्वभाव में विलीन कर, अपने से अभिन्न कर लेता है। प्यारे, अपनी रुचि की खोज करो। जो तुम्हारी रुचि है तुम उसी को जान सकोगे। यदि रुचि का अन्त कर दो तो स्वयं सत्य से अभिन्न हो जाओगे। क्या तुम कभी दुखी होना चाहते हो? यदि यह कहो कि नहीं, तो इसका अर्थ यही है कि सत्य वही होगा जिसमें दुःख न हो। दुःख कब होता है? जब आप अपने से किसी विशेष वस्तु को देखते हैं अर्थात् आपकी रुचि यही कहती है कि हम सबसे वशेष होना चाहते हैं। संसार आपको सबसे विशेष करने के लिए असमर्थ है, परन्तु जब आप संसार को त्याग 'मेरी' और देखेंगे तो 'मैं' उस रुचि की पूर्ति करने के लिए समर्थ हूं। यही 'मेरा' स्वरूप है। आपका काम सिर्फ 'मेरी ओर देखना है, इसके सिवा जो कुछ करना होगा, वह स्वयं 'मैं' करूंगा। जो 'मेरी' ओर नहीं देखता उसकी ओर 'मैं' कभी नहीं देखता। परन्तु आप जिसकी ओर देखते हो 'मैं' उसी स्वभाव को धारण कर आपकी पूर्ति करता हूँ; परन्तु ऐसी दशा में आप 'मेरें' पूर्ण स्वरूप को नहीं जान सकोगे। 'मेरे' पूर्ण स्वरूप को तब जान सकोगे जब आप अपने विषय-जन्य स्वभाव को त्यागकर अकेले हो सिर्फ 'मेरी'ओर देखोगे। सच्चे जिज्ञासु मुझसे 'अभिन्न होकर, अतः 'मेरे' जानने के लिए अपने बनावटी स्वभाव को मिटा दो। ही 'मुझे' जानते हैं, 'मुझसे' भिन्न होकर 'मुझे' नहीं जान पाते।

जो अपने को समर्पित कर देता है वही कृपा का अधिकारी है। कामना-युक्त प्राणी समर्पण कर नहीं पाता। अतः कामनाओं का त्याग कर कृपा-पात्र बनो, कृपा स्वयं आपके पैर पलोटेगी। रुचि के स्थायी होने पर व्याकुलता उत्पन्न होगी, व्याकुलता बढ़ जाने पर कामनाओं का अन्त होगा, कामनाओं का अन्त होते ही सफलता स्वयं हो जायगी। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

---

१६ जनवरी १९४१

जो जिसका हो जाता है,वह उसके बिना रह नहीं सकता, अर्थात् फिर वियोग कहाँ ? वियोग मिटने पर मिलने की अभिलाषा कैसी ? मिलने की अभिलाषा तो न मिलने को सिद्ध करती है और न मिलना तब तक जीवित है जब तक हम उनके नहीं हो जाते।

जब हम वह करते हैं, जो करना चाहिये, तब क्या वे वह नहीं करते जो उनको करना चाहिये ? यदि वे ऐसे हैं तो उनसे मिलने से क्या लाभ ? जिसमें करने की शक्ति नहीं होती, उसमें कोई अभिलाषा भी नहीं होती, जिसमें अभिलाषा होती है, उसमें करने की शक्ति अवश्य होती है। अभिलाषा होते हुए 'मैं कुछ नहीं करता' ऐसा कहना अपने आपको धोखा देने के सिवाय कुछ अर्थ नहीं रखता। अपने आपको धोखा देना सबसे बड़ा पाप है। अपने को समर्पित करने पर किसी प्रकार की भी कमी शेष नहीं रहती, ऐसा भली प्रकार अनुभव हुआ है।

१७ जनवरी १९४१

साधन करने से पहले साधक को यह विचार करना चाहिए कि हम साधन किस लिये करते हैं, अर्थात् हम क्या चाहते हैं। जो प्राणी अपनी चाह का पता लगा लेता है उसका मन साधन में अपने आप लग जाता है, क्योंकि बेचारा मन तो आपकी चाह के अनुसार काम करता है। आपकी आज्ञा के बिना आपका मन कभी कुछ नहीं करता। जिन कामो में आपको रस आता है, उन कामों में आपका मन लग जाता है। इसलिये उस रस को मिटाओ, जो काम करने में प्रवृत्त करता है विचार तो करो कि जिन कामों को अनेक बार किया है, फिर भी वे काम आपको वह नहीं दे सके, जो आप चाहते हैं। इससे यह मालूम होता है कि अब तक जो हम कर चुके हैं, उससे भिन्न अभी हमें करना है। उसका पता तब चलेगा, जब जो आप करते हो उसका त्याग करोगे।

देखो बुराई का त्याग होने पर अच्छाई उत्पन्न होती है। अच्छाई किसी से सीखी नहीं जाती। सीखी हुई अच्छाई अच्छाई नहीं होती, क्योंकि ठहरती नहीं। जो तुम चाहते हो, उसके न होने का दुख बढ़ाओ, क्योंकि दु:ख के बिना विकार मिट नहीं सकते। प्रत्येक प्राणी चाह उत्पन्न होने पर जब चाह पूरी नहीं होती, तब स्वयं अपने आप दुखी होता है। अतः अपनी अभिलाषा को स्थायी करो। अभिलाषा स्थायी होने पर दुःख अपने आप स्थायी हो जायगा। जो दु:ख कभी-कभी होता है वह आपका नहीं है। वह तो सिर्फ बाहर की सीखी हुई अच्छाई है।

कोई भी प्रेमी प्रेम-पात्र के बिना चैन से नहीं रहता। प्रेमी के लिए प्रेम-पात्र का दरवाजा सर्वदा खुला रहता है। प्रेम-पात्र प्रेमी से कहीं अधिक प्रेम करता है। अभागा प्रेमी तो एक बार भी प्रेम-पात्र की ओर नहीं देखता, क्योंकि एक बार देखने पर तो प्रेमी का प्रेम-पात्र से अभेद हो जाता है। विचारदृष्टि से देखो,प्रेम-पात्र के बिना मिले जो प्रेम-पात्र की याद आती है, वह तो उनकी कृपा है, क्योंकि मिलन सिर्फ एक बार होता है। देखो, मिलन होने पर याद नहीं आती। जब याद आती है, तो इसका अर्थ यही है कि वे आपको बुलाते हैं। साधारण प्राणी उनके बुलाने पर भी उनकी ओर नहीं देखते, परन्तु परम दयालु फिर भी बुलाना बन्द नहीं करते।

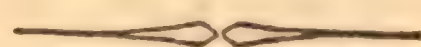
देखो, प्रत्येक प्राणी आनन्द की अभिलाषा करता है। आनन्द प्रेम-पात्र का स्वरूप है। सच्चा भजन जीवन में सिर्फ एक बार होता है। संसार से विमुख होकर प्रेम-पात्र की ओर जाना ही सच्चा भजन है। जप आदि के आधार पर जीवित रहना प्रेम का अधूरापन है तथा अपने को धोखा देना है। प्रेमी के हृदय में मिलने का भाव उत्पन्न होने पर मिलने पर ही अन्त होता है। जब तक मिलना नहीं होता तब तक लगातार हृदय व्याकुलता की अग्नि में जलता है। व्याकुलता के सिवाय प्रेम-पात्र से मिलने का और कोई मार्ग नहीं है। व्याकुलता होने पर हृदय का दरवाजा खुल जायगा,भय मत करो। सच्चाई प्राप्त करने का सभी को अधिकार है, परन्तु पाता वही है, जो सच्चाई के बिना किसी प्रकार नहीं रह सकता, ऐसा मेरा अनुभव है।



२४ जनवरी १९४१

विचारदृष्टि से देखो, मानव-जीवन क्या है ? दो प्रकार की चाह में फँसा हुआ प्राणी, आनन्द तथा विषय-सुख की इच्छा करता है, विषय-सुख की पूर्ति के लिये कर्म करता है, परन्तु आनन्द के लिए कर्म दिखाई नहीं देता। सभी कर्म सीमित फल देकर असमर्थ हो जाते हैं, आनन्द तक नहीं पहुँचाते। दुःख जो होता है उसका कारण तो सुख है। शुभ कर्म का फल सुख है और सुख दुःख में बदलता है। इस दृष्टि से तो कर्म ही दुःख का मूल हुआ। विचारो तो सही, प्रत्येक कर्म का जन्म कामना से होता है, कामना गलत ज्ञान से होती है और गलत ज्ञान शरीर तथा संसार में सद्भाव होने से होता है। क्या आप आनन्द का अनुभव करने के लिए कोई कर्म बता सकते हैं ? क्या संसार आनन्द देने के लिए समर्थ है ? क्या कोई भी कर्म संसार से पार कर सकता है ? अतः इन सब विषयों पर काफी विचार करने के बाद आनन्द का अभिलाषी संसार से विमुख हो, आनन्दघन भगवान् की शरणागत होने के लिए मजबूर हो जाता है। भोगों का गुलाम कर्म के जाल में फँसना पसन्द करता है। दूसरी दृष्टि से देखिये, दुःख तथा दुःखियों को देखकर हृदय में जो नास्तिक-भाव उत्पन्न हुए हैं, यह सिर्फ विचार की कमी है। गहराई से देखो, कि दुःख का होना तो आनन्दघन भगवान् की परम कृपा है, क्योंकि यदि दुःख न हो, तो विषय-सुख से अरुचि किसी प्रकार नहीं हो सकती, बल्कि दुःख होने पर भी साधारण प्राणी विषयों की ही लालसा करते हैं। जरा हृदय को तो देखो, यदि संसार की वस्तुओं की वासना न हो तो

दुःख ही क्या है ? आपको जो दुःख दिखाई देता है, वह सब सिर्फ संसार-सुख की वासना का फल है। दयानिधि की दया से ही गलत ज्ञान अर्थात् अहंभाव मिट सकता है। कुछ दिन पहले आपका यह कथन था कि मुझको सत्य के सिवाय और किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं, जिसकी पूर्ति के लिए संसार से अरुचि होना अनिवार्य था। जब ऐसी घटना हुई तब संसार से अरुचि के अतिरिक्त सत्य से अरुचि उत्पन्न हुई। आपको उस ईश्वर की प्रार्थना करना पसन्द है, जो आपकी रुचि के अनुसार संसार की वस्तुयें आपकी भेंट करता रहे। जो आपको संसार से पार कर अनन्त आनन्द की ओर बुलाता हैं, उससे निहोरा करने में हृदय को संकोच मालूम होता है। क्या यही पवित्र प्रेम है ? क्या यही सत्य की अभिलाषा है ? क्या आपका यह अनुभव नहीं कि जब-जब दुःख हुआ, तब-तब आपकी उन्नति हुई फिर भी दुःख का इतना निरादर करते हो ! यही बड़ी भूल है। भगवान् जब विशेष कृपा करते हैं, तब उसके यहाँ दुःख के स्वरूप में प्रकट होते हैं। सुखी जीवन अपनी तथा दूसरे की उन्नति के लिए सर्वदा असमर्थ है। अतः दुःख को भगवान् की परम कृपा समझ हृदय में बार-बार आनन्दघन भगवान् को बुलाओ। दुःख की कृपा से संसार की वासनाओं का पता चल गया, अब उनको निकाल दो।



पत्र के स्वरूप में दर्शन मिला। करना वही उचित है जिसकी रुचि हो, परन्तु ध्यान यह रखना कि क्रिया-शक्ति से

भाव-शक्ति अधिक हो, परन्तु साधारण प्राणी क्रिया इतनी अधिक बढ़ा लेते हैं कि भाव क्रिया ही में रह जाता है, लक्ष्य तक नहीं पहुँचता। क्रिया-भाव में और भाव लक्ष्य में विलीन होना चाहिए, क्योंकि प्यारे से मिलन अक्रिय होने से होता है। साधन में एकनिष्ठता हो। अनेक मन्त्र अपना कोई विशेष अर्थ नहीं रखते। व्याकुलतापूर्वक चिन्तन करने पर सभी मत्र लक्ष्य की पूर्ति में समर्थ हैं। प्रणव में अनन्त विद्यायें विद्यमान हैं, ऐसा सभी विद्वानों का मत है। निरन्तर उसका ही चिन्तन हो। मन का निरोध होने पर प्राण का निरोध स्वयं हो जाता है। भाव तथा विचार की प्रबलता से मन का निरोध सुगमतापूर्वक होता है। प्राणायाम आदि की आवश्यकता भाव की कमी होने पर होती है। भाव जागृत होने पर स्थूल साधन आवश्यक नहीं हैं। आसन आदि स्थूल शरीर के सुधार में समर्थ हैं। स्थूल शरीर की वासना सूक्ष्म शरीर को शुद्ध नहीं होने देती। सूक्ष्म शरीर का सुधार भाव तथा विचार से ही हो सकता है।



संसार की चाह करने वाला प्राणी, सच्ची आस्तिकता को नहीं पाता और न उसके हृदय में प्रीति उत्पन्न होती है, क्योंकि कामनायुक्त प्राणी प्रेम नहीं कर सकता। प्रीति का जन्म होते ही व्याकुलतापूर्वक प्रेम-पात्र का स्मरण, चिन्तन, ध्यान तथा समाधि सभी अवस्थायें अपने आप आ जाती हैं, परन्तु प्रेमी का हृदय तब तक सन्तुष्ट नहीं होता, जब तक किसी प्रकार की दूरी शेष रहती है। समाधि आदि अवस्थाओं से उत्थान होता है। प्रेमी में वियोग सहने की शक्ति नहीं रहती, अतः

समाधि के रस का भी त्याग करके प्रीति प्रीतम से अभिन्न हो उनका स्थायी संग करती है। प्रीति प्रेम-पात्र की कृपा से उत्पन्न होती है। कृपा यद्यपि सभी पर होती है, परन्तु उस कृपा का अनुभव तब होता है, जब हम सब प्रकार से उनके हो जाते हैं। प्रेम-पात्र के सिवा किसी सत्ता को स्वीकार न करना, यही उनका हो जाना है। असमर्थ को समर्थ करने में उनकी कृपा ही समर्थ है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। पूर्ण असमर्थ होते ही शरीर आदि का अभिमान नहीं रहता, अथवा पूर्ण समर्थ होते ही प्रेम-पात्र से भिन्न सभी सत्तायें निकल जाती हैं। इन दो अवस्थाओं से भिन्न और सभी अवस्थायें निरर्थक हैं। आस्तिक प्राणी की इन दो के सिवा और अवस्थायें नहीं होती। विचार-दृष्टि से देखो, एक काल में, एक हृदय में दो स्वतन्त्र सत्तायें नहीं ठहर सकतीं। प्रेम-पात्र के आते ही प्रेमी की सत्ता का अन्त हो जाता है। प्रेमी के रहते हुए प्रेम-पात्र आ नहीं पाता, सिर्फ माने हुए नाते के आधार पर हृदय कभी-कभी भावावेश से भर जाता है, जो वास्तव में प्रेम नहीं कहा जा सकता। साधारण प्राणी भाव-जन्य रस के आधार पर सिर्फ जीवित रहते हैं। यदि कुछ कहा जाय तो आस्तिकता के बहाने उत्तर दे देते हैं। करने को शक्ति होते हुए भी करने से अपने को बचाते हैं। भला देखें, कब तक बचोगे ! करने की शक्ति तो सिद्ध अवस्था में नहीं रहती,क्योंकि तब माना हुआ अहंभाव गल जाता है। अहंभाव होते हुए कुछ न कुछ करने की सूझती ही रहती है। अहंभाव का बदल देना संसार की दृष्टि से अच्छा बुरा कहा जा सकता है। आस्तिक-भाव से तो अहंभाव का न रहना ही श्रेष्ठ है, क्योंकि अहंभाव के रहते हुए प्रेम-पात्र के ठहरने के लिए स्थान नहीं मिलता । वह अनेक बार आये और स्थान न

मिलने के कारण चले गये। वे निरन्तर बुलाते हैं, किन्तु जाने की फुर्सत नहीं।

विचारो, आनन्द की अभिलाषा सदैव रहती है। निरन्तर याद उन्हीं की आ सकती है कि जो हमारी निरन्तर याद करते हैं। इस दृष्टि से यह भली प्रकार सिद्ध हो जाता है कि आनन्दघन प्रेम-पात्र निरन्तर बुला रहे हैं। दुःख की कमी सच्ची आस्तिकता नहीं आने देता। पूर्ण दुःख आने पर संसार की सत्ता हृदय में ठहर नहीं सकती। साधारण प्राणी दुखी संसार को देख हमारे प्यारे पर आक्षेप करते हैं, यह उनकी भूल है, क्योंकि उनमें दुःख तो है ही नहीं, भला देंगे कहाँ से ? दुःख तो सुख से मिला है, सुख संसार की सत्ता स्वीकार करने से मिला है। संसार की सत्ता विषयों में राग होने से प्रतीत होती है। यह भली प्रकार समझ लो कि ससार जिसको प्रतीत होता है उसकी ही एक अवस्था है। अवस्था सुख के आधार पर जीवित है। पूर्ण दुःख होने पर अवस्था भंग हो जाती है,ऐसा अनुभव है।

---

५ फरवरी १९४१

अपने से भिन्न मानी हुई सत्ता का शासन स्वीकार करना ही बन्धन है। मानी हुई सत्ता की अस्वीकृति ही विचार है। मानी हुई सत्ता का अभाव ही यथार्थ ज्ञान है। स्वतन्त्रता प्रदान करने में यथार्थ ज्ञान ही समर्थ है। जिस प्रकार औषधि का पूर्ण प्रभाव होने पर रोग की सत्ता मिट जाती है और औषधि भी शेष नहीं रहती उसी प्रकार पूर्ण विचार होने पर अविचार मिट जाता है और विचार-शक्ति भी शेष नहीं

रहती। भूख भोजन को और भोजन भूख को खा लेता है, उसी प्रकार भोक्ता भोग को और भोग भोक्ता को खा लेता है। भोग और भोक्ता की सत्ता स्वरूप से एक है, पूर्ण भोग होने पर दोनों की दूरी मिट जाती है। एक ही दो होकर दो होते हैं, अर्थात् अनन्त संख्याओं की सत्ता सिर्फ एक की सत्ता से है, क्योंकि अनन्त संख्या एक से ही प्रतीत होती है। एक न हो तो अनन्त संख्या प्रतीत नहीं हो सकती। माने हुए अहं से संसार की प्रतीति और बिना माने हुए अहं से परमात्म-तत्व का अनुभव होता है।

एक माने हुए अहं से संसार की अनेक सत्ताएँ प्रतीत होती हैं। एक माने हुए अहं के मिटने से संसार की अनेक सत्ताएँ मिट जाती हैं। बिना माना हुआ अहं नहीं मिटता,अतः परमात्म-तत्व नहीं मिटता। इकाई पर ज्यों-ज्यों शून्य बढ़ाते जाओ, मूल्य बढ़ता जाता है, यह सभी गणित वाले जानते हैं। इकाई-रहित शून्य का मूल्य कुछ नहीं रहता। इकाई का अर्थ क्या है ? एक, शून्य का अर्थ 'कुछ नहीं', ऐसा होने पर अहं का अनन्त मूल्य हो जाता है। जिस प्रकार एक ही सत्ता के बिना अनन्त संख्या की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती, उसी प्रकार एक अहं के बिना (इस संसार और उस परमात्मा की) सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती,अर्थात् अहंभाव की सत्ता से ही सभी सत्ताएँ प्रकाशित होती हैं,यह सिद्धान्त निर्विवाद सिद्ध है।

---

६ फरवरी १९४१

मानव-जीवन क्या है ? भोग अर्थात् विषयों की चाह,मोक्ष अर्थात् आनन्द की चाह, इन दो प्रकार की चाहों से भिन्न

जीवन क्या है ? कुछ भी पता नहीं चलता। विषयों की चाह की पूर्ति के लिए संसार की आवश्यकता होती है। यद्यपि बेचारा संसार पूर्ति कर नहीं पाता, परन्तु भोग के लिए और कोई स्थान नहीं। अतः भोग का अभिलाषी संसार की गुलामी त्याग करने में असमर्थ हो जाता है। कुछ विचारशील भोगी धर्मानुसार भोग प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। यद्यपि वे भोगी भोगियो की दृष्टि में श्रेष्ठ हैं, परन्तु शान्ति वे भी नहीं पाते। भोग दो वस्तुओं के मिलने पर होता है। दूसरे के काम आ जाना धर्मानुसार भोग है और दूसरो को अपने काम में लाने की चेष्टा करना धर्म-विपरीत भोग है। जो प्राणी धर्म नहीं जानते उनके हृदय में यह भाव जीवित रहता है कि संसार मेरे काम आ जाय। यही दोनों भाव अच्छाई तथा बुराई के नाम से प्रसिद्ध हैं। यह अच्छाई तथा बुराई दुःख से बचा नहीं पाती, बल्कि सच्चे दुःख को प्रकट करती है। बुराई से पवित्र दुःख नहीं हो पाता। हृदय में ईर्ष्या की आग जलती है। ईर्ष्या-युक्त प्राणी दूसरे के काम आने में असमर्थ हो जाता है। वह बेचारा भी अपनी उन्नति नहीं कर सकता, क्योंकि उसे इर्ष्या की आग से फुरसत नहीं मिलती। पवित्र दुःख होने पर संसार का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। संसार का ज्ञान होते ही भोग की चाह का अन्त हो जाता है। भोग की चाह का अन्त होते ही व्याकुलापूर्वक आनन्द की चाह उत्पन्न होती है। असह्य व्याकुलता बढ़ जाने पर आनन्दघन आनन्द की चाह पूर्ण कर देते हैं। दोनों प्रकार की चाह का अन्त होने पर जीवन ही में जीवन का अन्त हो जाता है, जो प्रत्येक प्राणी का लक्ष्य है।

जीवन यद्यपि किसी भी काल में स्थिर नहीं है, फिर भी

जीवन की आशा शेष क्यों रहती है ? यदि इस पर विचार किया जाय तो यही मालूम होता है कि जीवन जीवन का अन्त करने के लिये मिला है। जो बेचारे जीवन में जीवन का अन्त नहीं कर पाते वही जीवन की आशा में फँस जाते हैं। जीवन की आशा दुःख की कमी में अच्छी मालूम होती है। दुःख की कमी अविचार से होती है। विचार का जन्म होते ही हृदय दुःख से भर जाता है। पूर्ण दुःख होते ही दुःखहारी हरि दुःख हर लेते है। जिस स्थान पर दुःख नहीं पहुँचता वहीं कुछ विकार रह जाता है। अतः पूर्ण दुःख आनन्द के लिए परम आवश्यक है।



जीवन का निरादर करना परम भूल है। चाह रहते हुए चैन से रहना जीवन का निरादर है। सब प्रकार की चाह का अन्त कर देना ही जीवन का सच्चा आदर है। दुःख की कमी होने पर तथा केवल अपने ही दुःख से दुखी होने पर अभागी चाह जीवित रहती है। दूसरों के दुःख से दुखी होने पर सच्चा दुःख होता है और दुःख मिटाने में शरीर तथा ससार असमर्थ है। व्याकुलता उन्नति के लिए परम साधन है, क्योंकि यही भगवान् की योगमाया है। यह सब कुछ कर सकती है। यह सभी विकार मिटाने के लिए अग्नि के समान एवं सभी इच्छाओं की पूर्ति के लिए कल्पतरु के समान है। व्याकुलता वह शक्ति है जिसकी समानता करने के लिए भगवान् भी असमर्थ हैं, क्योंकि उनके यहाँ व्याकुलता नहीं है। गोपियों की व्याकुलता में फँसकर वे अपने अनन्त ऐश्वर्य- माधुर्य को

भूल गये, यह सभी भक्त जानते हैं। विचारो, प्रीतम को मिलने की रुचि ही प्रिया का स्वरूप है और वह रुचि जिसमें विलीन हो जाती है वही प्रीतम है। प्रिया-प्रीतम का मिलन ही जीवन का परम लक्ष्य है। भक्त का हृदय ही वृन्दावन है, जिसमें प्रिया-प्रीतम अनेक लीलाएँ करते हैं, अर्थात् भक्त का हृदय विरह के दुःख तथा मिलन के आनन्द से हरा-भरा रहता है। इस रस का आस्वादन करने में सच्चा दुखी समर्थ है। यह रस सुखी प्राणी को कभी नहीं मिलता। दुखी के लिए संसार में कोई स्थान नहीं है ऐसा सभी दुखियों का अनुभव है।

संसार उस पर ही शासन करता है, जो संसार की ओर देखता है। यदि संसार पर शासन करना चाहते हो, तो संसार की ओर मत देखो। जो संसार की ओर नहीं देखता, संसार उसके पीछे दौड़ता है, ऐसा विचारशील का अनुभव है। विचारशील संसार से अपनी पूर्ति का कभी अनुभव नहीं करता, बल्कि यथाशक्ति संसार के काम आ जाता है। संसार के काम आ जाना ही सच्ची सेवा है, जिससे हृदय शुद्ध हो जाता है। हृदय शुद्ध होने पर व्याकुलता उत्पन्न होती है। व्याकुलता उत्पन्न होने पर कुछ भी शेष नहीं रहता।



ज्ञान की जिज्ञासा होने पर ज्ञान स्वयं हो जाता है। इंद्रिय, मन, बुद्धि आदि ज्ञान की पूर्ति में असमर्थ हैं। इन सबका त्याग ज्ञान की चाह होने पर अपने आप हो जाता है, सिर्फ विषयों की चाह की पूर्ति में बुद्धि आदि साधन हैं। बुद्धि जिस सत्ता का निश्चय करती है उसको स्वयं नहीं जानती। बुद्धि के बिना

विषयों की चाह की पूर्ति में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। बुद्धि की सहायता के बिना करने का भाव दृढ़ नहीं होता। सत्य की अभिलाषा दृढ़ होने पर बुद्धि महारानी चुप बैठ जाती हैं। विषयों की चाह होने पर बुद्धि महारानी विषयों पर शासन करती हैं। विचार करो, स्थूल तत्वों, जैसे पृथ्वी तथा जल पर कर्मेन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रियों के आश्रित रह कर काम करती हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि विषयों को मन,इन्द्रिय आदि से विषय करते हैं और आकाश को केवल बुद्धि से ही विषय करते हैं, उसे किसी वाह्य इन्द्रिय से नहीं जानते हैं। प्रत्येक विषय में करने का कार्य कर्मेन्द्रियों द्वारा और तत्सम्बन्धी ज्ञान ज्ञानेन्द्रियों द्वारा होता है। कर्म ज्ञान की अपेक्षा स्थूल है, इस कारण कर्मेन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रियों के अधीन ही काम करती हैं, परन्तु आकाश को तो किसी भो वाह्य इन्द्रिय द्वारा विषय नहीं कर पाते, उसे तो बुद्धि द्वारा ही विषय करते हैं। पृथ्वी, जल अग्नि, वायु आदि तत्वों की अपेक्षा आकाश में सूक्ष्मता तथा व्यापकता विशेष है, अतः बुद्धि से आकाश जाना जाता हैं। इसके आगे बेचारी बुद्धि जा नहीं पाती। जो वस्तु जितनी अधिक सूक्ष्म होती है, वह उतनी अधिक विभु अर्थात् व्यापक होती हैं। इसी कारण पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि से आकाश अधिक बड़ा और सब में व्यापक है, क्योंकि ये सब उसी में स्थित हैं। इसी कारण जब बुद्धि सम हो जाती है, तब समाधि में सबसे बड़ा रस आता है। वह रस भी स्थायी आनन्द नहीं दे पाता। स्थायी आनन्द का अभिलाषी अपने को बुद्धि से ऊपर उठा लेता है। बुद्धि महारानी संसार की सभी वस्तुओं में श्रेष्ठ हैं, परन्तु प्रीतम (सत्य) से अभेद करने में असमर्थ हैं। प्रीति का स्वयं प्रीतम से अभेद होता है। सब प्रकार की चाह

का अन्त होने पर प्रीति का जन्म होता है। चाह-युक्त प्राणी प्रीति का अनुभव कर नहीं पाता। प्रीति प्रीतम की परम शक्ति है। प्रीति तथा प्रीतम का मिलन ही यथार्थ ज्ञान है, जो प्रेम, योग, आनन्द आदि नाम से प्रसिद्ध है। अभागी चाह ने प्रीति को ढक लिया है। विचारो, प्रीतम से मानी हुई दूरी तथा संसार से माना हुआ सम्बन्ध है। दोनों की चाह मिट जाने पर मानी हुई दूरी तथा माना हुआ सम्बन्ध मिट जाता है, क्योंकि विषयों की चाह होने पर संसार से सम्बन्ध होता है। संसार से सम्बन्ध होने पर ससार प्रतीत होता है। संसार की सत्ता केवल प्रतीतिमात्र है, क्योंकि वह किसी के पकड़ने में नहीं आई। संसार से सम्बन्ध-विच्छेद होते ही सत्य की चाह सत्य की कृपा से ही पूर्ण होती है। भोग तथा आनन्द दोनों की चाह का अन्त होते ही बनावटी माने हुए जीवन का अन्त हो जाता है। बनावटी जीवन का अन्त होते हो अनन्त नित्य जीवन का अनुभव होता है। यह जीवन प्रत्येक मानव को प्राप्त हो सकता है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। इसलिए नित्य जीवन के लिए भविष्य की आशा तथा किसी प्रकार के बाह्य सगठन का करना परम भूल है।



जो प्राणी अपनी वास्तविक अभिलाषा का पता लगा लेता है, वह उन्नति अवश्य कर लेता है। वास्तविक अभिलाषा की पूर्ति के लिए बेचारा संसार असमर्थ है। अतः संसार की सहायता से उन्नति की खोज करना परम भूल है। प्रेम-पात्र से

मिलने के लिए व्याकुलता ही परम साधन है। भोग की चाह ही वास्तव में संसार है, क्योंकि भोग की चाह न रहने पर इन्द्रिय, मन, बुद्धि, आदि तथा संसार सभी बेकार हो जाते हैं। इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से सम्बन्ध न रहने पर माना हुआ अहंभाव आनन्दघन प्रेम-पात्र से अभिन्न हो जाता है, अतः प्रत्येक मानव आनन्दघन अनुभव करने के लिए सर्वथा समर्थ है। आनन्द उसको नहीं मिलता जो आनन्द से निराश होता है। आनन्द से मानी हुई दूरी तथा संसार से माना हुआ सम्बन्ध है। सब प्रकार की चाह का अन्त होने पर मानी हुई दूरी तथा माना हुआ सम्बन्ध मिट जाता है। अभिलाषा रहते हुए चैन से रहना महान् पाप है।

साधारण प्राणी न जानने के कारण आनन्द अनुभव करने के लिए संसार की सहायता की खोज क्यों करते हैं? इस पर विचार किया जाय तो यही मालूम होता है कि वे बेचारे अपने को शरीर समझकर संसार के गुलाम बन जाते हैं, क्योंकि शरीर संसार का जुज़ है। यदि वह प्राणी विचार-पूर्वक शरीर को संसार की सेवा में लगा दे, तो वह आनन्द अनुभव करने के लिए समर्थ हो सकता है, क्योंकि सेवक का हृदय दुखियों के दुःख से हरा-भरा रहता है। यह नियम है कि जब जीवन में सुख नहीं रहता तब जीवन का राग मिट जाता है। राग मिटते ही त्याग अपने आप आ जाता है। अतः या तो दुखियों की सेवा करो अथवा एक से प्रेम करो, अथवा कुल का त्याग करो, इसके सिवा और किसी प्रकार आनन्द का अनुभव नहीं हो सकता। दुखियों की सेवा वह कर सकता है जिसको अपने लिए संसार की आवश्यकता नहीं होती।

एक से प्रेम वह करता है जिसका अनेक से सम्बन्ध नहीं रहता। कुल का त्याग वह कर सकता है जो माना हुआ अहंभाव मिटा देता है। साधारण प्राणी एक एक क्रिया को बदल कर कालान्तर में अहंभाव को बदलते हैं। विचारशील प्राणी अहंभाव को बदलकर सारी क्रिया को एक साथ बदल देते हैं और सच्चा प्रेमी अहंभाव को मिटाकर प्रेम-पात्र को पा लेता है। 'मैं भक्त हूँ' अथवा 'मैं जिज्ञासु हूँ' ये दो प्रकार के अहंभाव ऐसे होते हैं कि जिनसे प्राणी शीघ्र से शीघ्र उन्नति कर सकता है।

नोट—'अभिलाषा' एक और 'चाह' अनेक होती हैं, क्योंकि अभिलाषा अभिलाषी का स्वरूप है जो वास्तव में लक्ष्य तक पहुँचने में समर्थ है। गहराई से देखो, लक्ष्य की अप्राप्ति में लक्ष्य की अभिलाषा होती है। अभिलाषा किसी प्रवृत्ति की नहीं होती, बल्कि अभिलाषी जिसकी अभिलाषा करता है, वह (लक्ष्य) उसका स्वरूप हो जाता है और फिर किसी प्रकार की प्रवृत्ति तथा निवृत्ति शेष नहीं रहती।

१४ फरवरी १९४१

अभिलाषा के शेष न रहने पर सर्वोत्कृष्ट जीवन का अनुभव होता है, क्योंकि उससे ऊँचा और कोई जीवन नहीं हो सकता। यही जोवन की पराकाष्ठा है। आवश्यक अभिलाषा की पूर्ति और अनावश्यक इच्छाओं की निवृत्ति करना ही परम पुरुषार्थ है। विचार की कमी से अभिलाषा तथा इच्छाएँ शेष रहती हैं। पूर्ण विचार होने पर अभिलाषा की पूर्ति तथा इच्छाओं का अन्त होता है, अथवा यों कहो कि विचार का उदय होते ही अभिलाषा शेष नहीं रहती। अभिलाषा रहते हुए चैन से रहना महापाप हैं, क्योंकि व्याकुलता

ही अभिलाषा को पूर्ण करने में समर्थ है। प्रत्येक प्राणी व्याकुलता का ऋणी है, क्योंकि व्याकुलता ही प्रेम-पात्र से अभेद करती है। प्रेम-पात्र से अभेद होने पर करने का भाव शेष नहीं रहता। अतः व्याकुलता के प्रति मानव प्रत्युपकार कर नहीं पाता। इस दृष्टि से व्याकुलता का ऋणी होना भली प्रकार सिद्ध हो जाता है। व्याकुलता-रहित जीवन जीवन नहीं। मानव-जीवन पूर्ण आनन्द के लिए मिला है। आनन्द व्याकुलता से ही मिल सकता है और किसी प्रकार नहीं। जिस प्रकार सभी मिठाइयों में मीठापन चीनी का होता है, उसी प्रकार सभी अच्छाइयों में अच्छापन व्याकुलता का होता है। त्याग, प्रेम, ज्ञान यह सभी व्याकुलता के बच्चे हैं।



सन्त-वाणी

१४ फरवरी १९४१

जो दोष जिस समय मालूम हो उसके अतिरिक्त दोष का दूसरे काल में सद्भाव रखना परम दोष है, क्योंकि जिसको हम अपने में मान लेते हैं उसका निकलना असम्भव हो जाता है। अतः 'मैं दोषी हूँ' इस भाव को स्थान मत दो, बल्कि यह भाव करो कि 'मैं निर्दोष होने के लिए प्रयत्न कर रहा हूँ!' दोषों का सम्बन्ध तथा सद्भाव दोषों को निमन्त्रण देकर बुलाने का अर्थ रखता है। अपने प्रेम-पात्र की पवित्रता पर पूरा विश्वास करो। कपूत पूत भी माता की ओर जाने में भय नहीं करता। इस भाव के अनुसार अपवित्र होने पर भी पतित-पावन की ओर निर्भयतापूर्वक शीघ्र से शीघ्र जाने के लिए

प्रयत्न करो, अर्थात् उनके बिना चैन से न रहो, यही प्रयत्न है। पूर्ण पवित्रता तो उनसे अभेद होने पर मिलेगी। सच्चा एकान्त तिब्बत की कन्दराओं में नहीं है। प्रेमी और प्रेम-पात्र के सिवा किसी तीसरे को स्थान न देना ही सच्चा एकान्त है, जो बाजार में भी हो सकता है। जीवन में एकनिष्ठता की कमी है। उस कमी को सच्चे सम्बन्ध से पूरा करो। जप से मन का निरोध नहीं होता, बल्कि मन की सफाई होती है। जिस प्रकार गन्दी नाली साफ करते समय बदबू अधिक आती है। उसी प्रकार साधन करते हुए मन में ठहरा हुआ विकार निकलता है। मनोराज्य विरह की अग्नि में जलता है, अथवा विचार से मिटता हैं। शुभ कर्म से तो सिर्फ सच्चा सम्बन्ध उत्पन्न होता है। प्यारे, सच्चाई सबको मिलती है, इसलिए सच्चाई से निराश नहीं होना चाहिए। सच्चाई निरन्तर प्रतीक्षा कर रही है। एक बार सबसे बिमुख होकर उसकी ओर देखो। आगे पीछे का चिन्तन मत करो। आगे पीछे का चिन्तन मिटते ही वर्तमान में व्याकुलता उत्पन्न होगी, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

---

६ फरवरी १९४१

(१) जिस प्रकार मिट्टी का ज्ञान करने के लिये घड़े को तोड़ना आवश्यक है, उसी प्रकार स्वरूप-ज्ञान के लिए वृत्तियों का अभाव अर्थात् पूर्ण निरोध तथा निरोध से असंगता आवश्यक है। मिट्टी का यथार्त् ज्ञान होने पर अनन्त घड़ों के स्वरूप में भी मिट्टी ही प्रतीत होती है। प्यारे, यह भली प्रकार सीख लो कि ज्ञान होने से पहले ज्ञान का अर्थ सीखना परम

भूल है। सत्पुरुष तथा सत्शास्त्र साधन से अतिरिक्त कुछ नहीं कहते। साधन जिज्ञासु की खुराक है, दिमाग का रोग नहीं। सभी साधन जीवन का स्वरूप हो जाने पर उसी प्रकार मिट जाते हैं जिस प्रकार खा लेने पर भोजन। भोजन के मिटते ही भूख भी नहीं रहती, यह सभी जानते हैं, अर्थात् जिज्ञासु तथा साधन दोनों का अन्त हो जाता है। तत्पश्चात् स्वरूप से भिन्न कुछ भी शेष नहीं रहता। संसार भी अपने से भिन्न कुछ नहीं होता। क्रिया और ज्ञान का प्रश्न भी निरर्थक हो जाता है।

(२) अनित्य की चाह मिटने पर माने हुए अहंभाव की सभी टांगे टूट जाती हैं। सिर्फ नित्य की अभिलाषा के आधार पर वह बेचारा सिसकता है, जिसे व्याकुलता की अग्नि जला देती है। बस, उसी काल में माना हुआ अहंभाव निर्मूल हो जाता है। साधारण प्राणी व्याकुलता का काम दिमाग से ले लेते हैं, इसलिए विवेक और अविवेक की क्रियाओं का निरन्तर रहना स्वीकार करते हैं। क्रिया का जन्म अविवेक से होता है, इस दृष्टि से क्रियाएँ सभी अविवेक हैं। यह आप जानते हैं कि बड़वानल जल से उत्पन्न हो जल को खा लेता है और स्वयं भी मिट जाता है।

(३) साक्षात्कार होने पर,क्या है, उसका अनुभव होगा। अविवाहित कन्या विवाहिता के अनुभव को किसी प्रकार नहीं जान सकती। वृत्तियों की असंगता वृत्ति से नहीं होती, बल्कि पूर्णतया राग-रहित होते ही स्वरूप की कृपा से ही होती है। राग व्याकुलता की अग्नि से ही पूर्णतया जलता है, और किसी प्रकार नहीं। तो फिर रजोगुणी अथवा सत्वगुणी वृत्ति का

कथन ही बेकार है। सत्वगुणी वृत्ति रजोगुणी वृत्ति पर शासन करती है। सविकल्प समाधि में राग होने से सत्वगुणी वृत्ति का आदर रहता है। बोध में किसी प्रकार की आसक्ति शेष नही रहती। आसक्ति-रहित अवस्था में वृत्ति आदि का कथन करना असम्भव सा है। ब्रह्माकार वृत्ति उपासना की बढ़ी हुई अवस्था है, बोध नहीं। वृत्ति का अभाव समाधि की अवस्था है, बोध नहीं।

(४) अहंवृत्ति रोग है और अहंस्फूर्ति औषधि है। औषधि रोग को निवारणकर स्वयं नष्ट हो जाती है, अथवा यों कहो कि आरोग्यता से अभिन्न हो जाती है। जो शेष रहता है, वही साक्षात्कार है. उसमें क्रिया नहीं होती। अहंस्फूर्ति जीवन में सिर्फ एक बार होती है, अनेक बार नहीं। तो फिर ज्ञान और क्रिया की एकता कैसी ? ज्ञान में क्रिया और क्रिया में ज्ञान यही तो अज्ञान था। फिर चेतन में क्रिया कैसे शेष रहती है ? जड़ न होने का अर्थ सिर्फ इतना है कि अपने में किसी प्रकार का अवस्था-भेद नहीं रहता, क्योंकि अवस्था-भेद जड़ में होता है। जड़ और चेतन दोनों का वृत्ति के बिना एक समय में कथन नहीं कर सकते। कथन अनुपस्थिति में होता है। चेतन के प्रमाद में वृत्ति-द्वारा चेतन का कथन होता है, अनुभव नहीं। चेतन का अनुभव होने पर जड़ के कथन की आवश्यकता नहीं रहती। आवश्यकता-रहित क्रिया नहीं होती, यह सभी जानते हैं।

(५) विराग राग को और विवेक अविवेक को हटाता नहीं, बल्कि खा लेता है। खाते ही स्वयं भी मर जाता है। अतः राग रहित होने पर क्रिया शेष नहीं रहती। राग तथा अविवेक को हटाना दुःख की कमी में रहता है। ऐसी क्रिया वह प्राणी

करता है जिसके हृदय और दिमाग में एकता नहीं है। दिमाग के बल से राग मिटाया नहीं जा सकता, दबाया जाता है, इस लिये बार २ हटाना पड़ता है। दुःख की कमी को पूरा कर दो, राग-विराग दोनों मिट जायँगे। राग-विराग मिटते ही स्थिति स्वाभाविक है, यद्यपि स्थिति भी बोध नहीं है, क्योंकि वह भी एक अवस्था है।

(६) स्वरूप निश्चय नहीं होता, बल्कि स्वरूप का बोध होता है। यह निश्चयवाली बात अज्ञान-काल में ज्ञान को बढ़ाने के लिए कहते हैं। प्यारे, शास्त्र साधन है, सिद्धान्त नहीं। जिसने शास्त्र नहीं सुना वह बोध-काल में अबोध-काल का कुछ नहीं जानता। बोध में अबोध और अबोध में बोध का मिलाना यह सस्ते छापेखाने की महिमा है। शास्त्र गुरु के द्वारा यदि पढ़ा होता,तो अज्ञान-काल में ज्ञान सीखना नहीं होता बल्कि साधन करना होता है।

(७) वैराग्य-काल में स्वरूप निश्चय करने की फुर्सत नहीं होती, क्योंकि स्वरूप का निश्चय तो अनुभव से होता है। वैराग्य फाँसी की सजा है। बोध अमरत्व है। फाँसी-काल और अमरत्व में कोई संधि का कथन नहीं हो सकता। सिर्फ यही संकेत किया जा सकता है कि फाँसी काल का पूर्ण होना अमरत्व का उदय है। वैराग्य की सत्ता राग के आधार पर जीवित है। वैराग्य अग्नि और राग लकड़ी के समान है। राग का अन्त होते ही वैराग्य कुछ नहीं।

(८) चाह की पूर्ति तथा निवृत्ति में बड़ा भेद है। पूर्ति होने पर उत्पत्ति आवश्यक है, परन्तु निवृत्ति होने पर उत्पत्ति नहीं हो सकती। नित्य की चाह तब होती है, जब अनित्य की

चाह निवृत्त हो जाती है, पूर्ण नहीं। नित्य की चाह निवृत्त होने पर बोध होता है, जो चाह से परे है। नित्य और अनित्य की चाह के आधार पर ही मानव-जीवन अथवा माना हुआ अहंभाव निर्भर है। दोनों प्रकार की चाह निवृत्त होने पर माने हुए अहभाव अथवा जीवन में जीवन का अन्त हो जाता है, अर्थात् अनन्त जोवन का अनुभव होता है।

(९) यदि बुद्धि में स्वरूप-निश्चय अथवा संसार की निराश पहले से ही मान ली जायगी तो पूर्ण व्याकुलता नहीं होगी। संसार से निराशा होने पर हृदय में पूर्ण व्याकुलता की अग्नि जलेगी। उसी अग्नि में से एक ऐसी चीज उत्पन्न होगी, जो नित्य की जिज्ञासा जागृत कर उसे पूरा कर देगी और वह अग्नि आनन्द में विलोन हो जायगी। निराशा मानी नहीं जाती, हो जाती है। स्वरूप निश्चय नहीं किया जाता, बोध होता है। बुद्धि संसार से भिन्न का कुछ भी व्यापार नहीं कर सकती, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। कृपया बुद्धि को अब आप आराम करने दीजिये।

(१०) सत्य की अभिलाषा सत्य को मानकर नहीं की जाती, बल्कि मानी हुई अहम् की कामनाओं से सत्य की अभिलाषा ढक सी जाती है। माना हुआ अहंभाव अथवा विषयों की रुचि इन दोनों का स्वरूप एक है। संसार से निराश होते ही विषयों की रुचि मिटती है। उस काल में सत्य की अभिलाषा शेष रहती है। उस अभिलाषा के आधार पर ही अहंभाव सिसकता है। उसको दुखी देख दुःखहारी हरि विचार के स्वरूप में प्रकट हो दुःख को सदा के लिए हर लेते हैं। संसार माना जाता है, आस्तिकता जानी जाती है, पानी

नहीं जाती। मरने का डर विषयी को होता है। संसार से निराश होने पर जीवन ही में मृत्यु का अनुभव होता है परन्तु जो वास्तविक रुचि अर्थात् लालसा है, वह मिट नहीं पाती। जब वह मिटती अर्थात् पूरी होती है, तब आस्तिकता का अनुभव हो जाता है। मानी हुई आस्तिकता तो आस्तिकता का निरादर करना अर्थात् उसका स्वांग बनाना है।

(११) अभाव उसका होता है, जो स्वरूप से न हो और प्रतीत हो। क्या मानी हुई सत्ता अर्थात् प्रतीति के प्रतीत होने पर भी कोई अपने को शरीर स्वीकार करता है, कदापि नहीं। सब यही कहते हैं "मेरा शरीर है।" शरीर "अपने" को कोई नहीं कहता। तो फिर विचार उदय होने पर तो मानी हुई सत्ता अर्थात् प्रतीति का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं हो सकता। अतः वह बोध रूप ही है, जिस प्रकार दर्पण में प्रतीत होने वाली आकृति दर्पण से भिन्न नहीं है अर्थात् मानी हुई सत्ता किसी भी काल में नहीं थी। अभाव विचाररूप तथा निर्विचाररूप दोनों से अतीत है। विचार-कर्त्ता विचार नहीं कर पाता, बल्कि प्रेम-पात्र ही विचार के स्वरूप में प्रकट हो कर्त्ता-भोक्ता का अन्त कर उनको अपने से अभेद कर लेते हैं।

व्याकुलता से मत डरो। दिमाग से अधिक काम मत लो। दुःख की कमी को शीघ्र पूरा करो। दुःखहारी हरि दुःखहरण करने के लिए प्रकट होने की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

प्यारे देखो, आनन्द की अभिलाषा कोई मिटा नहीं पाता। अभिलाषा अप्राप्त दशा में होती है, अतः आनन्द को देखा भी नहीं, फिर भी आनन्द की अभिलाषा होती है। इससे भली प्रकार सिद्ध हो जाता है कि आनन्दघन भगवान् प्रत्येक मानव

को बुला रहे हैं। देर न करो। शीघ्र इधर से उधर देखो। ऐसा करते ही वे स्वयं अपना लेंगे।

---

१२ फरवरी १९४१

साधारण प्राणी विचारमार्ग में भी विश्वासमार्ग के उसूलों को मिलाते हैं। विचारमार्ग में ज्यों-ज्यों विचार बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों क्रिया की कमी होती जाती है। पूर्ण विचार होने पर पूर्ण अक्रियता, पूर्ण अक्रिय होने पर पूर्ण अनुभव और पूर्ण अनुभव से पूर्ण आनन्द स्वयं हो जाता है, अर्थात् फिर किसी प्रकार की कमी शेष नहीं रहती। स्मरण, चिन्तन, ध्यान तो विश्वासमार्ग के आधार पर होते हैं, विचारमार्ग से तो प्रेम-पात्र का संग होता है। संग और ध्यान आदि में भेद। ध्यान आदि से अवस्था होती है और संग से स्वरूप। संग एक बार और ध्यान आदि अनेक बार। संग होने से पूर्व, विचार से पूर्ण असंगता होती है। क्रिया उसकी अनुभूति कराती है, जो करने के काल से प्रथम नहीं था। क्रिया से उत्पन्न होने वाली सत्ता अनन्त काल तक नित्य नहीं रह सकती। इसीलिए प्रत्येक क्रिया का रस, कभी न कभी नीरस हो जाता है। सत्य क्रिया तथा भाव का विषय नहीं, बल्कि भाव तथा क्रिया सत्य के विषय हैं। सत्य से ही सभी की सत्ताएँ प्रतीतिमात्र सत्य हैं। यह बात भी सत्य का अनुभव होने से पूर्व स्वीकार करना भूल है, क्योंकि विचारमार्ग वर्तमान परिस्थिति के अनुभव से आरम्भ होता है। प्यारे, भोग की रुचि का अन्त होने पर बुद्धि महारानी की क्या आवश्यकता रहती है? बताओ तो सही। बुद्धि महारानी का संग छूटते ही स्वरूप-स्थिति में क्या सन्देह

है ? कहो तो सही। इन दोनों प्रश्नों को स्वयं हल कर लो। संसार की सभी वस्तुओं से बुद्धिदेवी श्रेष्ठ हैं, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है, किन्तु सत्य तक जाने में असमर्थ हैं, यह परम सत्य है। विचार की पूर्णता क्रिया और ज्ञान का विभाग करती है, विभाग होते ही माना हुआ अहंभाव क्रिया का संग छोड़ ज्ञान का संग करता है। उसका संग करते ही बेचारे की मृत्यु हो जाती है। जब तक बेचारा क्रिया का संग करता था तब तक परमप्रिया बुद्धि महारानी अपने अनेक चमत्कार दिखाकर उसे जीवित रखती थीं। इसी कारण माना हुआ अहंभाव बुद्धि में विशेष आसक्त रहता है। इस आसक्ति को व्याकुलता की अग्नि ही जला सकती है। विचार का उदय पूर्ण व्याकुलता के बिना किसी प्रकार नहीं हो सकता। अतः शीघ्र से शीघ्र व्याकुलता की शरण लो। व्याकुलता बढ़ने पर बुद्धि महारानी अनेक बार धोखा देती हैं। इनकी बातों में मत आओ। पूर्ण जिज्ञासा अधिक काल तक जीवित नहीं रहती, अर्थात् जिज्ञासु को चैन से नहीं रहना चाहिये। विश्वासमार्ग काल आदि की अपेक्षा करता है। विचारमार्ग में किसी की अपेक्षा नहीं है। जो जिज्ञासु चैन से रहता है वह जिज्ञासु नहीं है। जिज्ञासु के जीवन में सुख लेशमात्र नहीं रहता। सुखी प्राणी किसी प्रकार भी जिज्ञासु नहीं हो सकता। सुख से निराशा होते ही बेचारा संसार अपना मुँह फेर लेता है।

---

१९ जनवरी १९४१

यह भली प्रकार समझ लो कि सत्य भाषा तथा भाव दोनों से परे है। कथक उसका होता है जो अपना पूर्ण स्वरूप नहीं

होता। ज्ञान और क्रिया का विभाग जो 'विचार' है वह 'विचार' निश्चय नहीं है, वरन् अनुभव है। निश्चय बुद्धि महारानी की क्रिया है। विभाग होने पर तो अपरोक्ष-बोध होना चाहिये। बोध में स्वाभाविक प्रीति होने से मानी हुई सत्ता का अभाव स्वयं हो जाता है। विचार तथा अविचार दोनों अवस्थायें हैं, अर्थात् कार्य-कारण के समान हैं क्योंकि अविचार जनित वेदना ही विचार को जागृत करती है। अविचार अर्थात् विचार की कमी) विचार-जन्य क्रिया को उत्पन्न कर सकता है, परन्तु (विचार का) 'अभाव' क्रिया उत्पन्न करने में असमर्थ है। अभाव तो बोध होने पर होता है। ज्ञान और क्रिया का विभाग होने वाला 'विचार' बुद्धि-जन्य क्रिया नहीं है, क्योंकि बुद्धि महारानी का संग न होने पर विभाग होता है। विभाग करने वाले विचार के स्वरूप में दुःखहारी हरि प्रकट होते हैं। व्याकुता की अग्नि में जब राग जल जाता है, तब पूर्ण विचार के स्वरूप में प्रकट होकर कर्त्ता, भोक्ता और माने हुए स्वभाव का वध कर प्रेम-पात्र अपने से अभिन्न कर लेते हैं। इस दृष्टि से विभाग होने पर परोक्ष ज्ञान नहीं कहा जा सकता। परोक्ष ज्ञान की आवश्यकता तो विश्वास मार्ग के पथिक को होती है। विचार मार्ग तो बोध कराता है,क्रिया नहीं। बोध में स्वाभाविक प्रीति विचार-मार्गी का अखण्ड ध्यान है। ज्यों-ज्यों प्रीति गाढ़ी होती जाती है; त्यों-त्यों मानी हुई सत्ता का अभाव स्वरूप से होता जाता है। बोध होते ही प्रतीति होने पर भी तत्व-दृष्टि ही रहती है। उस दृष्टि पर ही सन्तोष करना प्रीति की कमी है। यद्यपि प्रीति में बोध बढ़ नहीं जाता, परन्तु अनन्त शक्ति और शान्ति दोनों के लिये बोध में प्रीति आवश्यक है। विभाग

होने पर बोध स्वयं हो जाता है।

संग क्रिया का विषय नहीं, किन्तु अक्रिय होने पर अपने आप होता है। अक्रियता राग मिटने पर होती है और राग व्याकुलता से मिटता है। व्याकुलता भोग का यथार्थ ज्ञान होने पर होती है। संसार वास्तविक रुचि की पूर्ति में असमर्थ है, यह जान लेना ही भोग का यथार्थ ज्ञान है। बुद्धि महारानी अधिक से अधिक यही कार्य कर सकती हैं। संसार की आवश्यकता का अन्त होते ही बुद्धि महारानी आनन्द भवन में सोती हैं, अर्थात् निर्विकल्प-समाधि हो जाती है। निर्विकल्प बोध के लिये विचार भगवान् ही समर्थ हैं, जो स्वयं प्रकट होते हैं। क्रिया-जन्य रस नीरस है, इसको तो आप भली प्रकार समझ ही चुके हैं, उस पर अधिक लिखना उचित नहीं मालूम होता। अभागा राग, करने को मजबूर करता है। राग-रहित अवस्था में तो स्वरूप-स्थिति स्वयं हो जाती है। केवल राग मिटने पर स्वरूप-बोध नहीं होता। स्वरूप-स्थिति अथवा स्वरूप-बोध में सिर्फ इतना ही अन्तर है कि स्वरूप-स्थिति का उत्थान होता है, परन्तु बोध का उत्थान नहीं होता। बोध और स्थिति दोनों का अभेद होना ही प्रीति तथा प्रीतम की अभिन्नता है। यद्यपि प्रीति प्रीतम से भिन्न किसी और में हो ही नहीं सकती, परन्तु जिज्ञासा आदि कामनाओं के कारण प्रीति और प्रीतम में भेद सा प्रतीत होता है। सभी कामनाओं का अन्त होने पर अथवा ज्ञान और क्रिया का विभाग होने पर प्रीति प्रीतम में है, यह भली प्रकार बोध हो जाता है। कामनाओं का अन्त होने पर विभाग और विभाग होने पर कामनाओं का अन्त हो जाता है। विश्वासमार्गी भाव की प्रबलता के कारण अपने आपको समर्पित कर

कामनाओं का अन्त करता है और फिर विचार का अधिकारी हो प्रीति प्रीतम का मिलन कर निजानन्द में छक जाता है। अतः विभाग अथवा समर्पण बुद्धि-जन्य क्रिया नहीं। भाव की प्रबलता होने के कारण समर्पण, और विचार की प्रबलता होने के कारण विभाग, रुचि की पूर्ति के लिये, स्वयं होता है।

वास्तविक रुचि का स्थायी करना ही व्याकुलतापूर्वक जिज्ञासा है। रुचि की पूर्ति होने से प्रथम किसी सत्ता को स्वीकार करना विश्वासमार्गी के लिये अनिवार्य है। परन्तु विचारमार्गी रुचि के पूर्ण होने पर अनुभव कर सत्ता स्वीकार करता है। स्वीकार करने का काल, अस्वीकृति की भूल मिटाने के लिये, अहंस्फूर्ति के रूप में अनुभव होता है। स्वाभाविक अहं में प्रीति ही स्फूर्ति है। प्रीति की पूर्णता होने पर स्फूर्ति की कल्पना करना बेकार है। अहं की चेतना तथा आनन्द अहं से अभिन्न हैं। अतएव स्फूर्ति आदि कल्पनाओं से अहं अतीत है।

प्यारे, भाषा तथा भाव दोनों से परे रहो। भाषा तथा भाव किसी की सत्ता प्रकाशित नहीं करते, किन्तु संकेत करते हैं। संकेत की सत्ता तब तक आवश्यक है जब तक प्रीति तथा प्रीतम अविचल भाव से अभिन्न नहीं हो जाते। असंगता प्रीतम का संग कब कराती है ? इसके लिए किसी भी काल की कल्पना हो नहीं सकती। बस. यही कहा जा सकता है कि पूर्ण असंगता से संग हो जाता है। जिस प्रकार नींद की अभिलाषा होने पर निद्रा का अभिलाषी यह नहीं जान पाता कि किस काल में सो गया, उसी प्रकार प्रेम-पात्र के संग का अभिलाषी पूर्ण असंग होने पर यह नहीं जान पाता कि संग किस काल में हो गया। असंगता जीवन की वास्तविक सुन्दरता है, जो

व्याकुलता की कृपा से मिलती है। व्याकुलता की पूर्णता का अर्थ असंगता और असंगता का अर्थ इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के दरवाजों का बन्द होना, अर्थात् निजानन्द से भर जाना है।

---

२० फरवरी १९४१

(१) वृत्तियों का निरोध यद्यपि एक अवस्था है, किन्तु अवस्था से परे होने के लिए निरोध आवश्यक है। क्रिया-जन्य निरोध और स्वाभाविक निरोध में अन्तर है। असंग होने पर स्वाभाविक निरोध होता है और भाव के आवेश में आकर क्रिया-जन्य निरोध होता है। क्रिया-जन्य निरोध किसी प्रकार की शक्ति देने वाला अवश्य है, पर शान्ति देने में असमर्थ है। असंगतापूर्वक स्वाभाविक निरोध शक्ति तथा शान्ति दोनों के लिए समर्थ है। जिस प्रकार फल का मूल्य देने से बगीचे की छाया तथा वायु बिना मूल्य मिलती हैं, उसी प्रकार तत्त्व-ज्ञानपूर्वक तत्त्व-निष्ठ होने से निरोध अर्थात् योग स्वाभाविक हो जाता है। विश्वासमार्गी प्रथम निरोध का और फिर कृपा-साध्य विचार उत्पन्न होने पर असंगता तथा अभेद का अनुभव करता है। इस दृष्टि से निरोध हृदय तथा दिमाग की एकता-वाला विचार (साधन) अवश्य है। बोध के लिये जिस विचार की आवश्यकता है, वह तो रागरहित होने पर अर्थात् भोग का यथार्थ ज्ञान होने पर होता है तथा तीव्र व्याकुलता बढ़ने पर दुःखहारी हरि विचार के स्वरूप में प्रकट होते हैं। साधारण प्राणी विचार के साधन को विचार, ज्ञान के साधन को ज्ञान अथवा निरोध के साधन को निरोध मान लेते हैं। राग से कामना उत्पन्न होती है, कामनाओं के आधार पर ही माने हुए

अहंभाव में क्रिया होती है। कामना-रहित होते ही अहंभाव की सत्ता तथा क्रिया शेष नहीं रहती। उस काल में विचार भगवान् गुरुदेव के स्वरूप में प्रकट होते हैं। वह विचार सिर्फ जीवन में एक बार होता है। जो विचार प्रयत्न पूर्वक किया जाता है वह वास्तव में विचार नहीं। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश होते ही अन्धकार नहीं रहता, उसी प्रकार विचार का उदय होते ही अविचार शेष नहीं रहता। यदि फिर अन्धकार न हो तो प्रकाश की कल्पना की नहीं जा सकती, उसी प्रकार यदि अविचार न हो तो फिर विचार की कल्पना की नहीं जा सकती।

(२) वृत्ति कभी चेतन नहीं होती। चाहे रजोगुणी हो अथवा सत्वगुणी। क्रिया पर अक्रियता शासन करती है। इस दृष्टि से सत्वगुणी वृत्ति रजोगुणी से आदरणीय है। जिस प्रकार बहुत बढ़िया शीशे के अन्दर लैम्प की रोशनी प्रतीत होती है, उसी प्रकार सत्वगुणी वृत्ति में चैतन्यता प्रतीत होती है। वास्तव में सत्वगुणी वृत्ति में चैतन्यता लेशमात्र भी नहीं है, जैसे शीशे में प्रकाश लेशमात्र नहीं रहता।

(३) अहंस्फूर्ति अज्ञान नाश करने में समर्थ है, परन्तु स्फूर्ति की संज्ञा निरर्थक है, क्योंकि स्फुरण वृत्ति-जन्य ज्ञान है। सत्य कल्पनातीत है। जब तक प्रमाद होता है, तब तक अहं-स्फूर्ति आदर-योग्य है। प्रमाद-रहित तत्त्व निष्ठा होने पर अहं से भिन्न कुछ है ही नहीं, अतः उसमें स्फूर्ति की कल्पना करना अपना कोई अर्थ नहीं रखता। जिस प्रकार दो की अपेक्षा एक गणना है, एक की अपेक्षा एक नहीं, उसी प्रकार अहं वृत्ति की अपेक्षा अहं-स्फूर्ति बोध है।

(४) जब तक असत् जड़ दुःखरूप की सत्ता स्मृति में शेष

है तब तक अहं में सत्-चित् आनन्द की निष्ठा अनिवार्य है। आत्मा का प्रकाश, आनन्द तथा सत्ता अभिन्न हैं' अर्थात् उनमें भिन्नता नहीं की जा सकती, क्योंकि जो सत् है वही चित् है, वही आनन्द है।

(५) अनुभव से पूर्व जिज्ञासा काल में चेतन का कथन होता है, बस यही उसकी अनुपस्थिति है, वास्तव में तो "है" का अभाव है ही नहीं। 'चेतन है' ऐसा कथन तब होता है, जब चेतन की जिज्ञासा होती है। जब तक किसी प्रकार की दूरी न हो तब तक जिज्ञासा बन नहीं सकती, अर्थात् सभी कथन अभिलाषा होने पर होते हैं। जिस प्रकार भोग की चाह होने पर ही संसार की प्रतीति तथा संसार का कथन होता है, उसी प्रकार चेतन (योग) की अभिलाषा होने पर चेतन आदि का कथन होता है। चाह आवश्यकता होने पर अथवा सुनने पर होती है। आवश्यकता होने पर सच्ची चाह तथा सुनने पर बनावटी चाह भी होती है। सच्ची चाह अधिक काल तक ठहर नहीं पाती, पूर्ण हो जाती है और बनावटी चाह अधिक काल तक ठहरती है। उसी चाह के आधार पर जड़ होकर चेतन का कथन करते हैं। भला अन्धकार ने कहीं सूर्य को और सूर्य ने कहीं अन्धकार को देखा है ? प्यारे, जड़ होकर जड़ का अनुभव करते हो, चेतन होकर चेतन का। चेतन की चाह होने पर तीव्र व्याकुलता से भिन्न कुछ नहीं होना चाहिये। इस दृष्टि से जड़ और चेतन का कथन एकमात्र वृत्ति के सिवाय और क्या है ?

जड़ में अवस्था-भेद होता है,चेतन में नहीं। इसकी विशद व्याख्या सुलझे को उलझाने के सिवाय और कुछ अर्थ नहीं

रखती, क्योंकि जड़ और चेतन का विभाग भी जिज्ञासु को समझाने के लिए कल्पनामात्र है। तत्त्व-दृष्टि से सच्चिदानन्दघन से भिन्न कुछ है ही नहीं। प्रतीति की सत्ता को स्वीकार करना ही जड़ को स्थापित करना है। प्रतीति का अभाव होकर चेतन का अनुभव होते ही चेतन से भिन्न कुछ भी शेष नहीं रहता। प्रतीति के साधन बदलने पर प्रतीति बदल जाती है, इस दृष्टि से जड़ में अवस्थाभेद सिद्ध होता है।

(६) हृदय तथा दिमाग की एकता होने पर निरर्थक भाव ठहर नहीं पाते, अर्थात् वही भाव उत्पन्न होते हैं जो जीवन का स्वरूप हो जाते हैं। हृदय और दिमाग के एक होने पर सच्चाई का व्यवहार होता है। वह प्राणी अपने आपको धोखा नहीं दे पाता, उसको आगे-पीछे का बेकार चिन्तन करने की फुर्सत नहीं मिलती, वह बेचारा असत् होकर सत् की बातें नहीं करता। वह प्रीतम की प्रससा सुनकर ही सन्तोष नहीं करता।

(७) विषय-राग उसी समय तक जीवित है, जब तक दुःख की कमी पूर्ण नहीं होती। दुःख की कमी पूर्ण होने पर विषयों में राग लेशमात्र भी शेष नहीं रहता। दुःख की कमी पूर्ण करने के लिए विश्व के साथ नाता स्थापित करना अनिवार्य है। संसार से भिन्न होकर जो दुःख है, वह तो सिर्फ दुःख का ज्ञान कराने के लिए समर्थ है। दुःख का ज्ञान होने पर विश्व का दुःख अपना दुःख होना चाहिये, यही दुःख का पूर्ण होना है।

(८) अनुभव से भिन्न कथन करना ही बोध में अबोध और अबोध में बोध का मिलाना। प्यारे, विचारो तो सही कथन तो तब करते हो जब प्रतीति नहीं करते। प्रतीति-काल में कथन नहीं होता- सिर्फ प्रतीति की स्मृति धारण कर कथन

करते हो। स्मृति भी राग के कारण होती है। यह भाव सूक्ष्म अधिक है, अतः गहराई से देखो, तब यथार्थ मालूम देगा। जब प्रतीति का ही कथन नहीं कर सकते तब अनुभव का कथन किस प्रकार कर सकते हो ? क्योंकि अनुभव होने पर अपने से भिन्न कुछ शेष नहीं रहता, फिर कौन किसका कथन करे ?

प्रतीति भी पकड़ने में नहीं आती, फिर स्मृति के आधार पर कथन करना कहाँ तक सत्य है ?

(९) यदि ज्ञान की बातें सुन नहीं रक्खी होतीं, तो वैराग्य-काल में स्वरूप निश्चय करने की फुरसत नहीं मिलती। गहराई से देखो, राग के आधार पर बेचारा अहंभाव जीवित रहता है। जब राग रहा नहीं, तब सिर्फ रुचि (अनन्त ऐश्वर्य, अनन्त माधुर्य) की अपूर्ति के आधार पर बेचारा माना हुआ अहंभाव सिसकता रहता है। उसको घोर दुःख में देख विचार-भगवान प्रकट होकर रुचि को पूर्ण करते हैं, क्योंकि स्वरूप का निश्चय नहीं किया जाता, अनुभव होता है। निश्चय करना तो बुद्धि-देवी का व्यापार है। स्वरूप तो बुद्धि अथवा चाह दोनों से परे है। प्यारा स्वरूप भाषा तथा भाव से अतीत है।

(१०) जो विचार घोर व्याकुलता होने पर उत्पन्न होता है वह उत्पन्न होते ही अपना कार्य पूर्ण करता है, अर्थात् मानी हुई सत्ता की अस्वीकृति कर स्वयं बोध कराता है। यदि मानी हुई सत्ता की अस्वीकृति के लिए बार-बार प्रयत्न करना पड़ता है तो दोनों विचारों में भेद हो सकता है, नहीं तो कुछ नहीं। पूर्ण व्याकुलता होने पर नैन-बैन आदि की क्रिया रुक जाती है। केवल जिज्ञासा के आधार पर प्राणमात्र शेष रह जाता है। घर में वन और जीवन में मृत्यु प्रतीत होती है। सुख की

सत्ता मिट जाती है। बेचैनी की एकनिष्ठता हो जाती है। यह भली प्रकार समझ लो कि एकनिष्ठता होने पर सफलता अवश्य होती है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। अतः पूर्ण व्याकुलता होने पर पूर्णता अनुभव होती है, यही व्याकुलता की पूर्णता है।

(११) विचार तथा निर्विकार इनके विषय में क्या कहा जाय ? विचार होते ही अविचार नहीं रहता और न विचार रहता है। तो फिर निर्विचार की सत्ता क्या है ? यदि अविचार के अभाव को निर्विचार कहा जाय, तो उचित नहीं मालूम होता, क्योंकि अविचार का अभाव होते ही बोध होता है।

(१२) अभाव को निर्विचार के अतीत यों कहा कि जो विचार अनेक बार होता है, उस विचार की थकावट निर्वि-चारता है। यदि विचार होने पर फिर विचार नहीं होता तो निर्विचारता तथा अभाव एक हैं।

(१३) कर्त्ता वही होता है,जो भोक्ता होता है अथवा कर्त्ता विचार नहीं कर पाता। विचार भगवान् तो व्याकुलता बढ़ जाने पर स्वयं उत्पन्न होते हैं।

प्यारे, जब सच्चाई भाव तथा भाषा से परे है, तो फिर उसकी व्याख्या ही क्या हो सकती है ? सत्य से जातीय एकता है और असत्य से मानी हुई एकता है। मानी हुई एकता मिटाने के लिये व्याकुलता परम औषधि है।

---

५ मार्च १९४१

(१) 'संग होने से पूर्व विचार से पूर्ण असंगता होती है। असंगता का पूर्ण होना ही संग हो जाना है, क्योंकि असंगता

और संग के बीच में कोई जगह खाली नहीं रहती। यद्यपि अनात्मा की स्वरूप से सत्ता नहीं है, परन्तु ज्ञान और क्रिया का विभाग होने पर स्वीकार की हुई सत्ता से असगता हो जाती है। असंगता का कथन असंगता होने से पूर्व ही रहता है, क्योंकि पूर्ण असंग होने पर अनात्म-भाव का अन्त हो जाता है। जब अनात्म-भाव ही नहीं रहा तो असंगता किससे और कैसी ? अविचार के बिना विचार की सिद्धि नहीं हो पाती, जिस प्रकार रोग के बिना औषधि। रोगी को औषधि की सत्ता स्वीकार करना परमावश्यक है। अतएव अविचार काल में बिचार की सत्ता स्वीकार करना परमावश्यक है।

(२) 'क्रिया उसकी अनुभूति करती है जो करने के काल से प्रथम नहीं थी', इस बाक्य के लिखने का भाव सिर्फ यह था कि क्रिया-जन्य रस तथा भाव-जन्य रस में आसक्ति न हो, अथवा यों कहो कि क्रिया से सत्य को खरीदने का प्रयत्न न किया जाय, जो असम्भव है। कुछ विचारमार्गी विश्वासमार्गी के समान ज्ञान के चिन्तन को ज्ञान मारकर चिन्तन-जन्य रस में आसक्त हो विशेष अवस्थाओं में सन्तुष्ट हो जाते हैं, यद्यपि बेचारे स्थायी नित्य शान्ति नहीं पाते, फिर भी ज्ञानाभिमान के रस में फँसकर अपने को ज्ञानी मान बैठते हैं, अर्थात् अहंग्रह उपासना आदि को ही ज्ञान मान लेते हैं। अहंग्रह उपासना से अन्तःकरण आदि अनात्म वस्तुओं में विशेष शक्तियाँ रुचि के अनुसार आ जाती हैं। उनमें फँसकर निर्मल शुद्ध बोध से विमुख हो जाते हैं।

(३) 'जो' से प्रयोजन उन विशेष अवस्थाओं आदि से था जो क्रिया आदि से उत्पन्न होती हैं। क्रिया और भाव बुद्धि आदि के

विषय हैं। विषय-राग होने पर बुद्धि आदि साधनों की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि जिन साधनों से विषयों की ओर जाते हैं। उन साधनों से सत्य की ओर नहीं जा सकते, ऐसा अखण्ड नियम है। बोध का प्रधान हेतु राग-रहित होना है, क्योंकि राग ही अबोध का कारण है। विचार राग को खा लेता है। इस दृष्टि से विचार को क्रियारूप से नहीं माना, यद्यपि साधारण प्राणी की दृष्टि में विचार भी एक पवित्र क्रिया है, परन्तु यह क्रिया सभी क्रियाओं का अन्त अर्थात् ज्ञान और क्रिया का विभाग है। ज्ञान में क्रिया और क्रिया में ज्ञान माना हुआ प्रतीत होता है। वास्तव में तो ज्ञान में क्रिया और क्रिया में ज्ञान स्वरूप से हो नहीं सकता, क्योंकि ज्ञान अनन्त, विभु एवं स्वयं-प्रकाश है। बेचारी क्रिया पर-प्रकाश्य, जड़ तथा सीमित है। सीमित से असीम तथा जड़ से चेतन, मिल नहीं सकता। सीमित का त्याग असीम के अनुभव का साधन अवश्य है।

---

(१) जगत् के स्वरूप में भी निज-स्वरूप का अनुभव होना बोध है, ऐसा होते ही तत्त्व-दृष्टि होती है। जगत् के स्वरूप में निज-स्वरूप का अनुभव होना यद्यपि बोध है, परन्तु प्रीति की कमी इसलिये कथन की कि तत्त्व-ज्ञान होने पर निर्विकार स्वरूप में क्रियारूप विकार (जगत्) का प्रतीक होना, जो वास्तव में स्वरूप से नहीं है, ज्ञान निष्टा की कमी से ही है। निष्ठा की कमी ही प्रीति की कमी है। प्रीति क्रिया नहीं है, बल्कि पूर्ण अक्रियता है, क्योंकि क्रिया का जन्म कामना से होता हैं, और कामना-युक्त दशा में प्रीति हो नहीं पाती। अतः प्रीति का जन्म तब होता है जब कामना नहीं रहती, अथवा यों कहो कि

प्रीति प्रीतम का स्वभाव है, अतः प्रीति को प्रीतम में ही विलीन करना आवश्यक है।

(२) भेद-भाव से तो प्रीति होती ही नहीं, अथवा प्रीति होने पर भेद भाव रहता नहीं। गहराई से देखो, प्रीति जिससे होती है, उसका त्याग नहीं किया जा सकता। त्याग किसका नहीं किया जा सकता ? यदि इस पर विचारा जाय तो यही मालूम होता है कि कोई भी 'अपना' त्याग नहीं कर पाता। अतः प्रीति 'अपने' में हुई, तो फिर बताओ कि वह भेद तथा दूरी कैसे बढ़ा सकती है ? अर्थात् नहीं बढ़ा सकती, बल्कि वह तो दूरी एवं भेद को मिटाती है। बिना प्रीति के ज्ञान तो सभी को प्राप्त है, क्योंकि ज्ञान की ही सत्ता से अज्ञान (संसार आदि) की सत्ता प्रकाशित होती है। प्रीति से ज्ञान की निष्ठा दृढ़ होती है।

(३) बोध होते ही 'प्रतीति' शेष रहने पर भी तत्त्व-दृष्टि रहती ही है। इस तत्त्व-दृष्टि का अर्थ संसार के स्वरूप में निज स्वरूप का अनुभव होना है। विश्वासमार्गी जिस प्रकार 'यह जो कुछ है, वह प्रेम-पात्र का है' अनुभव करता है, इसी प्रकार विचार मार्गी 'यह जो कुछ है, मेरा ही स्वरूप है,' ऐसा अनुभव करता है। निष्ठा बढ़ जाने पर 'यह जो कुछ' भी मिट जाता है।

(४) बोध में प्रीति 'आवश्यक' निष्ठा के लिये है और किसी लिये नहीं। यद्यपि बोध स्वयं निष्ठा है, परन्तु निजानन्द से अन्तःकरण का छक जाना, सुन्दरता पर श्रृङ्गार के समान हैं।

निर्वासनिक होने पर प्रीति का उदय होता है। प्रीति

क्रिया नहीं है; अतः वह अभेद नहीं होने देगी, ऐसी शंका बन नहीं सकती।



(१) विश्वासमार्गी प्रेम-पात्र की सत्ता पर विश्वास कर प्रयत्न पूर्वक निरोध करता है, परन्तु ज्ञान और क्रिया का विभाग करने में असमर्थ होता है। उस विभाग के करने की शक्ति का उदय कृपा-साध्य है, क्योंकि यदि क्रिया-साध्य कहा जाय तो विश्वास मार्ग ही कैसा ? विश्वास-मार्ग का अनुसरण भाव की प्रबलता तथा विचार की कमी में होता है। भाव-प्रधान वाणी कृपा पर भरोसा करता है, क्रिया पर नहीं। गहराई से देखो, विचार तो क्रिया-साध्य है भी नहीं। विचार तो कृपा-साध्य ही है, क्योंकि क्रिया बुद्धि आदि से होती है और विचार बुद्धि से असंग करता है। अतः विचार क्रियासाध्य नहीं हो सकता। विचारमार्गी स्वरूप की कृपा का अनुभव करता है और विश्वासमार्गी अपने इष्ट-देव की।

(२) अनात्म-भाव को त्यागकर आत्म-भाव का अनुभव करना ही तत्त्वज्ञान का अर्थ है।



१० मार्च १९४१

[ओलों की वर्षा होने पर प्रकृति द्वारा जनता के अनहित होने का प्रश्न उपस्थित होने पर समाधान—]

(१) प्रकृति प्राणी की माता के समान है। जिस प्रकार माता अपने बालक की इच्छाओं की पूर्ति के लिए अनेक प्रकार की रचनायें करती हैं, उसी प्रकार प्रकृति प्राणी की इच्छाओं की पूर्ति के लिये अनेक प्रकार की रचनायें करती हैं। माता की कोई भी क्रिया बालक के अनहित के लिये नहीं होती, यह सभी

बालक जानते हैं, तो फिर 'प्रकृति माता अनहित करती हैं' यह बात कहने के लिये स्थान नहीं रहता । कोई भी दण्ड ऐसा नहीं होता कि जिससे सुधार न हो, तो फिर प्रकृति का न्याय गलत कैसे हो सकता है ? यदि प्रकृति की सारी क्रियायें दुःख का कारण हैं तो फिर हित का कारण किसकी क्रियायें हैं ? जो बुद्धि प्रकृति की भूल निकालती है, क्या वह प्रकृति की नहीं है ? प्रकृति से ही प्रकृति की भूल निकालना किस प्रकार सिद्ध हो सकता है ? अपने शरीर का मोह धारण कर दूसरे शरीरों के सुख-दुख से सुखी-दुखी होकर अपने शरीर के मोह को जीवित रखने का प्रयत्न सज्जनता, उदारता आदि के नाम से कथन किया जाता है । प्रकृति की स्वाभाविक क्रियायें अहितकारी किसी प्रकार नहीं हो सकतीं, क्योंकि कोई भी अपने साथ अहित नहीं करता । शरीर आदि प्रकृति के हैं, अतः उनके सुधार में प्रकृति भूल नहीं कर सकती । प्रकृति की भूल सिर्फ राग-द्वेष के कारण दिखाई देती है ।

(२) जगत् नाना रूपवाला है । यह बात सिर्फ इतना ही बता पाती है कि 'जगत् में रहकर जगत् के विषय में बात करना ।' जगत् क्या है ? यह तो तब कहा जा सकता है जब हम जगत् से अलग हों । जगत् से अलग होकर जगत् एक वस्तु है, अनेक नहीं, क्योंकि जगत् का नानात्व जगत् होकर प्रतीत करते हो, जगत् होकर जगत् को जान नहीं पाते, अतः जगत् में नानात्व है, यह बात किसी प्रकार सिद्ध नहीं होती । जगत् की प्रतीति करने वाला, प्रतीति के साधन तथा प्रतीति ये तीनों वस्तुयें एक हैं, क्योंकि प्रतीति और प्रतीति के साधन इन दोनों से असंग होने पर प्रतीति करने वाला शेष रहता है ।

उसका अनुभव होने पर जगत् का अनुभव नहीं रहता, बल्कि जगत् उसको अपनी एक अवस्था मालूम होती है । अवस्था अवस्थावाले से भिन्न नहीं होती, अतः जगत् मेरा ही स्वरूप है, यह बात भलो प्रकार सिद्ध हो जाती है। जल का ज्ञान होने पर लहर जल से भिन्न नहीं है, उसी प्रकार जगत् का यथार्थ ज्ञान होने पर जगत् निज-स्वरूप से भिन्न नहीं है। जल-दृष्टि होने पर लहर-दृष्टि शेष नहीं रहती, फिर लहर में नानात्व है, यह कैसे कहा जा सकता है।

एक जीवन से भिन्न और कुछ विचार-दृष्टि से देखने में नहीं आता। आपको जो कुछ प्रतीत होता है वह केवल आपका राग है। राग-रहित होने पर जगत् क्या है, इस पर विचार करो। राग-रहित होते ही बुद्धि आदि की चेष्टा सम हो जाती है, फिर किन साधनों से जगत् ना नानात्व अनुभव करते हो ? शब्द, स्पर्श, रूप,रस, गन्ध से भिन्न प्रतीति किसकी होती है ? वह प्रतीति विषयों के राग के सिवाय और क्या अर्थ रखती है ? राग-युक्त बुद्धि जगत् के स्वरूप को कैसे जान सकती है ? राग बिना जगत् की प्रतीति कहाँ है ? इन सब कारणों पर विचार करने पर यही सिद्ध होता है कि जिसको जो प्रतीत होता है, वह उसकी एक अवस्था है, अर्थात् जगत् मेरा ही स्वरूप है।

(३) सुख 'थकावट' है, यह बात सब प्रकार से सत्य है। प्यारे, जिस काल में जिस सौन्दर्य का अनुभव करते हो, क्या उस काल में उससे और विशेष सौन्दर्य की कल्पना नहीं हो सकती ? यदि हो सकती है तो फिर वह सौन्दर्य कैसा ? अर्थात् वह सुन्दरता सुन्दरता नहीं रह जाती । परन्तु फिर भी

सुन्दरता मानकर (जानकर नहीं) सुख का रस चखते हो। क्या किसी भी काल में सुन्दरता स्थिर है ? यदि स्थिर नहीं तो सुन्दरता की सत्ता क्यों स्वीकार करते हो ? यदि सत्ता स्वीकार नहीं करते तो सुन्दरता का रस क्यों चखते हो ? यदि रस नहीं चखते तो सुख कहाँ ? यदि रस चखते हो तो सुन्दरता का ज्ञान कहाँ ? यदि सुन्दरता का ज्ञान है तो सुन्दरता की स्थिरता कहाँ ? क्योंकि परिवर्तन प्रवाहवत् निरन्तर है। जब प्रतीति की सत्ता ही सिद्ध नहीं होती, तो फिर सुख की सत्ता कैसे सिद्ध हो सकती है ? जब सुख की सत्ता ही सिद्ध नहीं होती, तो सुख थकावट नहीं तो क्या है ? संसार को देखने की दृष्टि बन्द करके सुख का अनुभव करते हो। विषयों की सुन्दरता तत्त्व-वेत्ता को प्रतीत नहीं होती, क्योंकि स्वरूप से नहीं है। विषयी बेचारा स्वरूप को जान नहीं पाता, अतः विषयी का कथन विषयों के विषय में माननीय नहीं हो सकता, क्योंकि उस बेचारे को विषयों का ज्ञान तो है नहीं। भूला हुआ सुखी जिस काल में सुख की सत्ता का अनुभव करता है, क्या उस काल में वह सुख के स्वरूप को जानता है ? अर्थात् नहीं जानता।

प्यारे, जिसकी सत्ता तुम स्वीकार कर लेते हो वही शासन करता है। अतः अपने से भिन्न किसी भी काल में किसी की सत्ता को स्वीकार न करो।



२१ मार्च १९४१

यदि बुद्धि महारानी से ऊपर उठने में कुछ भय मालूम होता है, तो उसका अर्थ यही होता है कि अभी बुद्धि की आवश्यकता

है। यह आवश्यकता तब तक रहती है, जब तक बुद्धि महारानी से वह काम नहीं करते जो करना चाहिये। गहराई से देखो, जो साधन विषयों में प्रवृत्त कराने में समर्थ हैं, वे सत्य का अनुभव कराने में असमर्थ हैं।

(१) बुद्धि आदि द्वारा प्रकृति की भूल पकड़ना यही अर्थ रखता है कि 'कुल' भूल करता है और 'जुज़' भूल पकड़ता है, यद्यपि 'जुज़' हर काल में कुल के आश्रित है, अर्थात् परतन्त्र है। जुज़ को जो कुछ हानि दिखाई देती है वह जुज़ का दोष है, कुल का नहीं। गहराई से देखो, क्या आँख सूरज का दोष पकड़ सकती है? क्या आँख सूरज से अधिक देख सकती है? आँख बिगड़ जाने पर भले ही सूरज को गालियाँ देती रहे, वास्तव में तो सूरज बेचारा अनन्त आँखों को देखने की शक्ति प्रदान करता है। शक्ति प्रदान करते हुए भी बिगड़ी हुई आँख नहीं देख पाती, यह आँख का दोष है। आँख में आसक्त बुद्धि सूर्य की व्यर्थ आलोचना करती है। भोक्ता को भोग प्रकृति ही प्रदान करती है। जब भोक्ता भोग करने के योग्य नहीं रहता है, तब छीन लेती है। छीनते समय भोक्ता भोग-दाता माता पर आक्षेप करता है, यह उसका राग है और कुछ नहीं।

प्रकृति माता पूर्णता देने में असमर्थ हैं, क्योंकि वह स्वयं पूर्णता की ओर दौड़ रही हैं। विषयी प्रकृति पर आक्षेप कर नहीं पाता, क्योंकि उसके बिना रह नहीं पाता और वीतराग का उससे सम्बन्ध नहीं रहता, अतः वह भी कुछ नहीं कह सकता। दैवी आपत्तियों से बचाने का अभिमानी यूरोप आज किस दशा में है? देखो तो सही, प्रकृति बेचारी अपनी अपूर्णता का परिचय देकर अपने (पूर्ण) प्रीतम की ओर जाने के लिये

निरन्तर संकेत करती है। अतः सभी दृष्टियों से यही भली प्रकार ज्ञात होता है कि कुल से जुज़ की हानि नहीं होती। यदि यह स्वीकार करते हो कि कुल जुज़ की हानि करता है, तो जुज कुल से अलग क्यों नहीं हो जाता ? जब तक जुज़ कुल से अलग नहीं हो पाता तब तक कुल पर जुज़ का आक्षेप करना शोभा नहीं देता। जुज़ कुल से अलग होने में सर्वदा असमर्थ है, क्योंकि कुल से भिन्न जुज़ की कोई सत्ता ही नहीं। बीमारी आदि की कपोलकल्पना तो सिर्फ इसलिए की थी कि ओलों द्वारा हानि देखने का तो प्रयत्न किया, किन्तु वह हानि भविष्य में क्या अर्थ रखती है, इस पर दृष्टि नहीं की। वर्तमान की क्रिया पर ही दृष्टि रखना दृष्टि की संकीर्णता है। 'टुकड़ों' को देखकर 'कुल' पर आक्षेप करना क्या कपोलकल्पना नहीं ? अनन्त संसार अनन्त भोगों को भोग रहा है, क्या वह प्रकृति से नहीं मिले हैं ? गहराई से देखो, जो जानवर गर्म स्थान से बर्फ के स्थान पर चला जाता है वह बेचारा सर्दी से बचने के लिये कपड़े नहीं बनवा पाता, तो प्रकृति माता अपने उस दीन बालक के शरीर पर बड़े-बड़े बाल उत्पन्न कर सर्दी से बचा लेती हैं। भोग-दृष्टि से प्रकृति माता भोक्ता का सर्वस्व है, अर्थात् भोगी को प्रकृति का आदर करना ही होगा। जो भोगी प्रकृति का विरोध करते हैं, उनमें भोगने की शक्तिहीनता आ जाती है, जिस प्रकार बिजली के आविस्कार से आँख की दुर्बलता हो गई है, ऐसा डाक्टर मानते हैं।

प्यारे, प्रकृति से लड़ने के लिये भी तो प्रकृति की ही सहायता लेते हो, किन्तु प्रकृति सहायता देने के लिये इन्कार

नहीं करती। विषयी के लिये प्रकृति कल्पतरु है। विषय-पूर्ति के लिये प्रकृति अनुकूल साधन प्रदान करती है, यही प्रकृति का हित करना है। क्या आप यह नहीं मानते कि दुःख से सुधार होता है ? जब दुःख से सुधार होता है तब दण्ड से सुधार हुआ, इसमें क्या सन्देह है ? कमी को जीवित रखने के समान और क्या अपराध होगा ? क्या यह अपराध उन प्राणियों का नहीं है जो दैवी घटनाओं से दुःख का अनुभव करते हैं ? क्या पूर्ण होने पर यह कमी मिट नहीं जाती ? अतः कमी का जीवित रखना महान् अपराध है और कमी न रहना सुधार है । इस दृष्टि से दण्ड तथा सुधार दोनों ही ज्ञात हैं। कोई प्राणी सब प्रकार के दैवी विघ्नों से बच नहीं सकता, जब तक तत्त्वनिष्ठ न हो जाय। अतः विघ्नों से बचने का अभिमान कथनमात्र है। प्यारे, व्यर्थ-चेष्टाओं का निरोध करो। तत्त्वनिष्ठ होने ही के लिये निरन्तर प्रयत्न हो। जातीय अभिलाषा की पूर्ति के लिये माना हुआ सम्बन्ध असमर्थ है। मानी हुई सत्ता की अस्वीकृति जातीय अभिलाषा पूर्ण करने के लिये परमावश्यक है।

(२) 'जगत् मेरा ही स्वरूप है' यह तत्त्व दृष्टि है, अर्थात् ज्ञान है। ज्ञान से जगत् की सत्ता का अभाव है स्वरूप का अर्थ सत्ता है न कि जगत्। जगत् एक मेरी ही अवस्था है, यह विवेक दृष्टि है। विवेक-दृष्टि से असंगता होकर निज-स्वरूप का बोध होता है, अर्थात् तत्त्व-दृष्टि हो जाती है। 'जगत् मेरा ही स्वरूप है' इस दृष्टि से ही जगत् का अभाव होता है और विज्ञान अर्थात् तत्त्व-निष्ठा हो जाती है।

सिनेमा के समान विराट् संसार को देखना ही राग है।

इस राग से तत्व-ज्ञान नहीं हो पाता। सिनेमा और उसका देखने-वाला इन दोनों का विभाग करना विवेक है। विवेक होने पर तत्त्व-निष्ठा होती है और फिर सिनेमा की सत्ता शेष नहीं रहती।

सिनेमा की सत्ता स्वीकार करने पर सिनेमा की वासना मिट नहीं सकती। विराट् भगवान् को सिनेमा के भाव से कथन करना, कथन करने के सिवाय और कुछ सार्थक अर्थ नहीं रखता। सिनेमा-भाव से विषयों का उपभोग करना विषयी की चतुरता है। प्यारे, बिचारशील को तो विषयों का अन्त करना है। सिनेमा की दृष्टि से तो बिषयों की रक्षा होती है, अतः इस दृष्टि से तो बिषयों का नितान्त अन्त कर दो।



२६ मार्च १९४१

(१) जगत् का अभाव होने पर ही 'जगत् मेरा ही स्वरूप है' यह अनुभव होता है, क्योंकि जगत् की सत्ता न रहने पर अहं की सत्ता शेष रहती है, स्वरूप का अर्थ सत्ता है।

(२) जगत् एक है, यह बात विवेक-काल की है। जगत् अनेक है, यह बात अविवेक-काल की है। विवेक ज्ञान नहीं,बल्कि अविबेक का अन्त करने में समर्थ होता है।

(३) यदि बोध है तो मनन क्यों करते हो ? क्योंकि मनन तो बोध होने से पूर्व होता है। अवस्था का अनुभव जिन साधनों से हो वह साधन तथा अवस्था दोनों एक हैं, किन्तु अनुभवकर्त्ता साधन और अवस्था इन दोनों से भिन्न है, यह बात भी विवेक-काल की है, अथवा यों कहो कि साधन है।

(४) अनन्त संख्यायें एक ही इकाई से उत्पन्न होती हैं, क्योंकि इकाई की सत्ता निकलने पर संख्या कुछ नहीं रहती। अतः एक इकाई की संख्या ही संख्यारूप से प्रतीत होती है, और संख्या का ज्ञान होने पर इकाई ही शेष रहती है, अर्थात् जगत् का नानात्व एकत्व में बिलीन होता है। गहराई से देखो, १ से ९ तक गणना होने पर अन्त में फिर एक ही शेष रहता है।



(१) वेदान्त की बात तो वेदान्तवाले जानें, अनेक ज्ञाता और अनेक ज्ञेय यह दोनों एक हैं, अर्थात् दोनों ही ज्ञेय हैं, क्योंकि जिसको ज्ञाता कहते हो वह ज्ञेय की प्रतीति कराता है। प्रतीति क्या है, इसको प्रतीतति-कर्त्ता नहीं जानता। प्रतीति-कर्त्ता स्वरूप से एक होते हुए भी अनेक प्रकार के हो सकते हैं। जिस प्रकार मिट्टी, साधारण काँच, अथवा दूर्बीन का काँच तीनों का कारण एक ही है, अथवा यों कहो कि तीनों एक हैं। इन्द्रियाँ जिसको कुछ दिखाती हैं उसको बुद्धि महारानी कुछ और ही दिखाती हैं। इन्द्रियाँ तथा बुद्धि के बदल जाने पर प्रतीत भी बदल जाती है। इन्द्रियों तथा बुद्धि की चेष्टा में सिर्फ प्रतीति का अन्तर होता है। साधारण मानव प्रतीति के अन्तर को ज्ञान मान लेते हैं। अतः वे बेचारे नाना ज्ञेय और नाना ज्ञाता स्वीकार कर लेते हैं। प्रतीति ज्ञान नहीं होती, बल्कि विषय होती है। विषय का भोक्ता विषय को जान नहीं पाता। प्रतीति को स्वीकार करना ही प्रतीतिकर्त्ता का प्रतीति को भोग करना है। भोग तथा भोक्ता दोनों स्वरूप से एक होते हैं, क्योंकि यदि भिन्न हों तो सम्बन्ध नहीं हो सकता। अतः अनेक प्रतीतियाँ

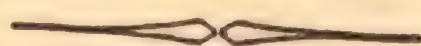
और अनेक प्रतीतिकर्त्ता ये दोनों ज्ञेय हैं। अथवा यों कहो कि भोक्ता और भोग दोनों एक हैं। भोक्ता और भोग दोनों से परे बोधस्वरूप ज्ञाता है, इस दृष्टि से ज्ञाता एक है, अनेक नहीं।

(२) समाज-भाव की एकता सिर्फ कल्पनामात्र है, क्योंकि व्यक्ति-भेद होता है विराट्-भाव तो अनेक व्यक्तियों का एक शरीर है, जिस पर बार अनेक अंग एक शरीर है।

(३) दुःख का भोक्ता होता है, ज्ञाता नहीं। भोक्ता कभी ज्ञाता नहीं होता और ज्ञाता कभी भोक्ता नहीं होता। भोग और भोक्ता दोनों अनित्य हैं, ज्ञाता नित्य है। भोक्ता अनेक हैं, ज्ञाता एक है। गहराई से देखो, यदि शरीर के दुःख-भोक्ता को ज्ञाता मान लिया जाये तो भोक्ता कौन होगा ? प्यारे, शरीर में अनेक कीटाणु अपनी रुचि के अनुसार भोग करते हैं, क्या शरीर के दुःख का भोक्ता उन कीटाणुओं के सुख-दुःख का ज्ञाता होता है ? यदि दुःख-भोक्ता और ज्ञाता एक होते तो प्रत्येक कीटाणु के सुख-दुःख का ज्ञाता भी शरीर का दुःखभोक्ता होना चाहिये था, किन्तु ऐसा नहीं होता। जिसमें ममत्व का भाव होता है वह ज्ञाता नहीं होता, बल्कि भोक्ता है। ज्ञाता तो सर्वथा असंग है।

(४) सर्व शरीर-भाव होने पर समाज भाव आता है, विराट् भाव से सिर्फ एक शरीर होता है। 'सर्व शरीर का एक अभिमानी' यह कथन कुछ अर्थ नहीं रखता, क्योंकि शरीर के संग से ही अभिमानी की कल्पना होती है। शरीर एक है, सर्व नहीं, क्या शरीर के कीटाणुओं का अभिमान प्रश्नकर्त्ता को होता है ? क्या सब कीटाणुओं को निकाल देने पर शरीर

की सत्ता शेष रहती है ? जिस प्रकार अनेक कीटाणुओं की एकता ही एक शरीर है, उसी प्रकार अनेक शरीरों की एकता ही एक विराट् शरीर है। विराट् और शरीर इन दोनों का स्वरूप एक है। इस दृष्टि से विश्व एक जीवन है, अनेक नहीं।



(१) तत्त्व बुद्धि से परे है,उसको बुद्धि प्रमाणित नहीं करती, बल्कि संकेत करती है। बुद्धि महारानी तो सिर्फ चाह के अनुसार क्रिया में प्रवृत्त होती हैं। जब चाह-पूर्ति नहीं कर पातीं तब चुप हो जाती हैं, अर्थात् सम हो जाती हैं। बुद्धि के सम होते ही विचार-भगवान् प्रकट होते हैं, जो ज्ञान और क्रिया का विभाग कर अपने से अभिन्न कर लेते हैं। बुद्धि महारानी सिर्फ प्रतीति के परिवर्तन को प्रकट करती हैं, प्रतीति क्या है, इसको नहीं जानतीं। यदि जानने में समर्थ होतीं तो समाधि की कोई आवश्यकता नहीं रहती, अथवा यों कहो कि समाधि का कोई मल्य नहीं होता। यह सभी मानते हैं कि समाधि-जन्य रस बुद्धि-जन्य रस से श्रेष्ठ है। अतः बुद्धि महारानी अनन्त रस तक पहुँचाने में असमर्थ हैं। प्यारे, मनन कुल का होता है, टुकड़ों का नहीं। टुकड़ों का मनन तो कर्म है। कर्म ज्ञान का साधन नहीं होता, बल्कि भोग का दाता होता है। मानी हुई सत्ता की अस्वीकृति के लिये जो प्रयत्न है, वही मनन है। मानी हुई सत्ता में विचरण करना मनन से विमुख होना है, अथवा व्याकुलता से बचने का उपाय है, क्योंकि बुद्धि-जन्य क्रिया के आधार पर जीवित रहना जिज्ञासु को उचित नहीं

है। जब व्याकुलता की अग्नि में मानी हुई सत्ता जल जाती है, तब विचार भगवान् आकर जली हुई अग्नि को शान्त कर देते हैं, अर्थात् फिर आनन्द की गंगा लहराती है। विश्वास-मार्गियों की भाँति भविष्य की आशा पर जीवित मत रहो, बल्कि वर्तमान में ही पूर्ण जीवन का अनुभव करो ।

---

२९ मार्च १९४१

(१) यदि जुज़ को अपने व्यक्तित्व से मोह न हो तो क्या यह भाव उत्पन्न हो सकता है कि प्रकृति अहित करती है ?

(२) कुल का हित होने पर क्या जुज़ का हित होना शेष रहता है, जब कि जुज़ और कुल स्वरूप से अभिन्न हैं ?

(३) जुज़रूप में कर्त्ता भोक्ता जो प्रतीत होता है, क्या वह प्रकृति से उत्पन्न नहीं हुआ ? वह भी तो उसी प्रकृति का अंग है, भिन्नता देखना दृष्टि की कमी है।

(४) जुज़ में कर्त्तापन और भोक्तापन होता है, कुल में दातृत्व। यदि कुल में दातृत्व नहीं है तो फिर जुज़ में दीनत्व कैसे आता है ? दीन का होना ही दाता को सिद्ध करता है। यदि प्रकृति दाता नहीं है, तो यज्ञादि द्वारा लोकान्तर की प्राप्ति व्यर्थ सिद्ध होगी, कर्मवाद की सत्ता शेष नहीं रहती। प्रकृति का मूल्य जिज्ञासु अथवा तत्त्ववेत्ता की दृष्टि में कुछ न हो किन्तु भोगवादी तथा कर्मवादी के लिये तो प्रकृति ही सब कुछ है। जुज़-बुद्धि तथा जुज़-अहं का कुल ईश्वर की माया और ईश्वर है, क्योंकि बुद्धि माया से अभिन्न है और अहं ईश्वर से, इनमें केवल मानी हुई दूरी है। जुज़-

अहं कुल के अहं ईश्वर में विलीन होता है और बुद्धि माया में विलीन होती है यह तत्त्व-वेत्ता को प्रत्यक्ष है।

(५) भोक्ता और भोग दोनों ही प्रकृति हैं। चैतन्य को भोग की आवश्यकता नहीं होती, बुद्धि महारानी भी प्रकृति ही है। यदि प्रकृति जड़ है, तो क्या बुद्धि चेतन है ? क्या बुद्धि अनेक बार प्रकृति के सामने दीन नहीं हुई है ? क्या थकावट दूर करने के लिये सुषुप्ति में विलीन नहीं होती है ? क्या 'अज्ञान' प्रकृति नहीं है, जिसमें बुद्धि विलीन होती है ? 'प्रकृति जड़ है' यह जड़ बुद्धि थोड़े ही कह सकती है ? यदि कहती है, तो वह स्वयं जड़ है, जड़ को जड़ कैसे कह सकती है ? यदि कहती है तो अपने आपको धोखा देती है। हां, 'आप' भले ही कह सकते हो, क्योंकि चैतन्य हो। प्रकृति 'है' मात्र है। यह सत्ता तो प्रकृति को आपने दी है, न कि बुद्धि ने। भला आप अपनी दी हुई सत्ता का कैसे तिरस्कार कर सकते हो ? यह अवश्य कर सकते हो कि उसको अपने ही में विलीन कर लो। वह बेचारी तो आपकी ओर निरन्तर दौड़ रही है।

(६) क—बुद्धि के न देख सकने से क्या भविष्य में लाभ नहीं होता ? क्या वर्त्तमान की मृत्यु भविष्य जीवन की दाता नहीं होती ?

ख—विषय की अरुचि से तो वर्त्तमान में ही लाभ है, परन्तु भविष्य में तो भौतिक-लाभ होगा, क्योंकि प्रकृति इच्छाओं की पूर्ति के अनुकूल क्षेत्र प्रदान करती है। क्या वर्त्तमान में गला हुआ बीज अपने स्वभाव के अनुसार अपनी अनन्त सत्ता प्रकृति से नहीं पाता ?

ग—यह तो बीज से पूछो कि प्रकृति उदार है या संकीर्ण।

घ—मोह का अन्त तो ज्ञान से होता है और किसी प्रकार नहीं। अथवा मोहवाली बात इस प्रसंग में लिखना व्यर्थ एवं असंगत है।

(७) यदि सूरज जड़ है, तो आँख क्या चेतन है? आँख बुद्धिपूर्वक देखती है, अथवा बुद्धि आँख द्वारा देखती है? अथवा बुद्धि और आँख दोनो के द्वारा अहं देखता है? अहं की दृष्टि से सूरज जड़ है या आँख और बुद्धि की दृष्टि से सूरज जड़ हैं? सूरज को जड़ अहं की दृष्टि से कह सकते हो। आँख की दृष्टि से सूरज आँख का देवता है।

(८) जुज को जो हानि दिखाई देती है, वह इसलिये कि वर्तमान परिस्थिति से जुज़ को आसक्ति है। गहराई से देखो, प्रत्येक जुज जब अपने को अत्यन्त शक्ति-हीन पाता है, तब स्वयं मृत्यु का आवाहन करता है,अर्थात् कुल में विलीन होना चाहता है। जुज़ की आन्तरिक दृष्टि में कुल हितैषी है। जब तक जुज में दुःख की कमी रहती है,तब तक कुल पर आक्षेप करता है।'अहित' जुज की भूल-दृष्टि है और 'हित' जुज़ की यथार्थ दृष्टि है। यहाँ 'हित' का अर्थ भोग-दाता से है, ज्ञान-दृष्टि से नहीं।

(९) जब दैवी-आपत्तियों से नहीं बच सकते, तो बचने का प्रयत्न ही निरर्थक है।

(१०) क्या आप यह नहीं जानते कि संकल्प करने की आवश्यकता ही अप्राप्त दशा में होती है? जज़ का संकल्प करने का अर्थ कुल से भिक्षा माँगना है।

(११) थोड़ी आपत्ति से बचने पर बड़ी आपत्ति आती है। अतः विचारशील को कुल आपत्तियों से बचने का प्रयत्न करना चाहिये। धारा-प्रवाह शरीर काल-अग्नि में जल रहा है, किसी आविष्कार से बचाओ। यदि आविष्कार से नहीं बचा सकते तो प्रकृति के समर्पण कर अपना पल्ला छुटा लो। प्रकृति की वस्तु पर अपना अधिकार करना क्या ईमानदारी है ?

(१२) यदि हित करना व्यर्थ है, तो क्या अहित करना सार्थक है ? यदि अहित करना सार्थक है तो बेचारे विषयियों के लिये कौन सा स्थान है ? कर्मवादी किस आधार पर जियेंगे ? स्वर्ग तक कौन ले जायेगा ? यज्ञ की सामग्री कौन पहुँचावेगा ? चन्द्रमा के बिना अन्न आदि में रस कौन देगा ? सूर्य के बिना अन्न कौन पकावेगा ?

---

(१) देखनेवाला जब तक देखने की अभिलाषा करता है तब तक देखने का राग है, दीखने वाली सत्ता सत् हो अथवा असत्। असत् सिनेमा की आसक्ति भी बन्धन है। विषय और भोक्ता दोनों स्वरूप से एक हैं। केवल असत् समझना रागरहित होना नहीं है; बल्कि अपने से भिन्न किसी की भी आवश्यकता न हो यही निष्ठा रागरहित है। किसी और की आवश्यकता का होना ही राग है।

(२) राग-रहित निष्ठा से भिन्न सब कुछ राग है।

५ अप्रेल १९४१

प्रकृति-हितवाद की कल्पना प्रकृति-अहितवाद के लिये थी। वर्तमान स्थूल सृष्टि पर ही भरोसा करना बेचारे विषयी प्राणियों के लिये सीमित क्षेत्र कर देने के सिवाय और कुछ अर्थ नहीं रखता। हिन्दुओं का यज्ञवाद आदि जो आपके शब्दों में रूढ़िवाद आदि है, विषयी लोगों को वर्त्तमान विषय से विरक्त कराने में समर्थ है और बड़े-बड़े विशेष भागों में प्रवृत्ति का कारण है। इसके सिवाय उसका और कुछ मूल्य नहीं।

प्यारे, किसी भी पत्र में मनाने के लिये आग्रह नहीं किया और कोई भी उत्तर विषयान्तर नहीं दिया। बिना पूछे अपनी ओर से प्रकृति के विषय में कभी कुछ नहीं लिखा, पूछने पर जो भाव उत्पन्न हुआ प्रकट कर दिया।

भोग-इच्छा संसारवाद को स्वीकार करती है, अथवा यों कहो कि भोग-इच्छा ही संसार है।

मोक्ष की इच्छा ईश्वरवाद अथवा ब्रह्मवाद को सिद्ध करती है। ईश्वर-भक्त ईश्वर का वही अर्थ लेते हैं, जो जिज्ञासु निज स्वरूप का लेते हैं।

कोई भी शब्द अपना अर्थ आप तो प्रकाशित करते नहीं, इसलिए जो बात जिस भाव से कही हो उसको उसी भाव से देखो। शब्दों पर मत जाओ। दुखी को संसार में स्थान नहीं मिलता, और सुखी को ईश्वर की आवश्यकता नहीं होती। विचार-मार्ग का अनुसरण करने पर किसी भी प्रकार का लेश-मात्र भी संशय शेष नहीं रहता किन्तु उसका अधिकारी होना चाहिये। कुछ कल्पनाओं को मानना और कुछ को न मानना यह तो विचार-मार्ग है नहीं। सभी कल्पनाओं का अन्त

होने पर बुद्धि की क्या आवश्यकता शेष रहती है ? अर्थात् कुछ नहीं। बुद्धि आदि के सम होने पर क्या स्वयं प्रकाश तत्त्व का अनुभव नहीं होता ? अर्थात् अवश्य होता है, क्योंकि बुद्धि की सम और विषम इन दोनों अवस्थाओं का बोध क्या निर्विकल्प बोध अथवा स्वयं प्रकाश को नहीं है ?

निर्विकल्प बोध में क्या सृष्टि की सत्ता शेष रहती है ? अर्थात् नहीं रहती। जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति तो शरीराभिमानी अहं की होती है, स्वयं प्रकाश की नहीं।

माना हुआ अहं मिटाकर क्या किसी प्रकार की चाह उत्पन्न कर सकते हो ? अर्थात् नहीं कर सकते। चाह-रहित होने पर क्या भोग तथा मोक्ष का प्रश्न शेष रहता है ? अर्थात् नहीं रहता। भोगेच्छा शेष रहते हुए संसारवाद मिट नहीं सकता और न मोक्षेच्छा शेष रहते हुए ईश्वरवाद (अध्यात्मवाद) ही मिट सकता है। दोनों प्रकार की इच्छाओं के आधार पर माना हुआ अहं जीवित है। अतः उस माने हुए अहं का अन्त होते ही दोनों वाद तत्त्वज्ञान में विलीन हो जाते हैं।

शरीर का पूर्ण स्वस्थ होना शरीर के स्वभाव से विपरीत है, क्योंकि जिस प्रकार दिन और रात दोनों से ही काल की सुन्दरता होती है, उसी प्रकार रोग आरोग्य दोनों से ही शरीर की वास्तविकता प्रकाशित होती है।

[प्रकृति द्वारा जनता का अहित होने के प्रश्न के समाधान की समाप्ति]

---

४ अप्रेल १९४१

(१) सच्चाई जीवन की परम आवश्यक वस्तु है, परन्तु झुठाई की आसक्ति के कारण सच्चाई कठिन सी मालूम होती

है, यद्यपि सच्चाई का अनुभव अत्यन्त सुगमता पूर्वक हो सकता है, क्योंकि सच्चाई का अभिलाषी उसका अनुभव करने के लिये पूर्ण स्वतन्त्र है। गहराई से देखो, विषय तथा विषयों के उपभोग करने के साधन ये दोनों किसी को भी स्वतन्त्रता पूर्वक नहीं मिलते, क्योंकि विषयों का उपभोग बिना संगठन के नहीं हो सकता। परन्तु विषयों की रुचि का त्याग करने में तो स्वतन्त्रता है। विषयों की रुचि का त्याग करते ही कर्त्ता का मूल्य बढ़ जाता है। ऐसे भोक्ता को भोगों का चिन्तन नहीं होता, बल्कि भोग स्वयं अपनी सार्थकता के लिये उसकी शरण में आते हैं। ऐसी प्रवृत्ति सिर्फ वर्त्तमान में प्रतीति-मात्र है, क्योंकि ऐसे भोक्ता को प्रवृत्ति-जन्य रस नहीं होता। रस के बिना अवस्था में सद्‌भाव नहीं होता। अतः ऐसे भोक्ता की प्रवृत्ति केवल प्रतीतिमात्र है। यह नियम है कि प्रत्येक प्रवृत्ति का अन्त अपने आप होता है। प्रवृत्ति के अन्तकाल में पूर्ण निवृत्ति होकर स्वरूप-स्थिति स्वयं हो जाती है। यद्यपि स्वरूप-स्थिति सच्चाई का अनुभव नहीं है, परन्तु अन्य सभी अवस्थाओं से श्रेष्ठ है। इस अवस्था के आने पर मल विक्षेप का अन्त हो जाता है। सभी अवस्थाओं का उत्थान होता है। जब सच्चाई का अभिलाषी उत्थान का दुःख सहन नहीं करता, तब स्वरूप की कृपा से पूर्ण सच्चाई का अनुभव हो जाता है, अर्थात् अवस्था-भेद मिट जाता है, अथवा यों कहो कि अपने से भिन्न कुछ भी शेष नहीं रहता।

(२) विचार-मार्ग का अनुसरण वह कर सकता है जो सच्चाई का अनुभव वर्त्तमान में ही करने का प्रयत्न करता है ,अर्थात् जिसको सचाई के बिना किसी प्रकार भी चैन नहीं

पड़ती। सच्चाई के बिना उसी को चैन पड़ती है जिसके जीवन में किसी न किसी प्रकार का राग-द्वेष अवश्य है। पूर्ण राग-द्वेष मिटने पर सभी मानी हुई सत्ताओं का अन्त हो जाता है। मानी हुई सत्ताओं का अन्त होते ही पूर्ण सत्य का अनुभव होता है।

(३) विषय-जन्य स्वभाव मिटने पर राग-द्वेष का अन्त जीवन की सभी परिस्थितियों में हो जाता है। किन्तु विषय-जन्य स्वभाव शेष रहने पर किसी भी परिस्थिति में राग-द्वेष का अन्त नहीं होता। अतः जिज्ञासु को परिस्थिति परिवर्तन करने की ओर विशेष ध्यान नहीं देना चाहिये,बल्कि पूरी शक्ति लगाकर विषय-जन्य स्वभाव मिटाने का घोर प्रयत्न करना चाहिये। जो अपनी पूरी शक्ति लगा देता है उसकी रक्षा ईश्वर, गुरु तथा सच्चाई स्वयं करती है, क्योंकि जो सच्चाई के बिना नहीं रह सकता उसके लिये सच्चाई स्वयं गुरु तथा ईश्वर के स्वरूप में प्रकट होती है, क्योंकि सच्चाई, ईश्वर तथा गुरु सब स्वरूप से एक हैं, तीन नहीं। वही जिज्ञासु को गुरु के स्वरूप में, भक्त को ईश्वर के स्वरूप में और विचारशील को सत्य के स्वरूप में अनुभव होता है। भक्त जिज्ञासु, विचारशील जब अपने को खो देते हैं तब अन्त में सब एक होते हैं, अर्थात् तत्त्व-ज्ञान में किसी प्रकार का भेद नहीं रहता।

तत्त्व-ज्ञानपूर्वक निष्ठा होने पर शक्ति और शान्ति दोनों निरन्तर सेवा करती हैं।



१२ अप्रेल १९४१

(१) अच्छाई के अभिलाषी को अच्छा होने के लिये शरीरादि सभी वस्तुओं से ऊपर उठना होगा।

(२) शरीर-भाव मिटाने के लिये निरन्तर आत्म-भाव करना होगा।

(३) नवीन जीवन का भाव धारण कर मानी हुई कल्पनाओं का त्याग करना होगा।

(४) भूतकाल का सद्भाव मिटाकर वर्त्तमान में ही असंगतापूर्वक अपने में ही अपने परम प्रेमास्पद का अनुभव करना होगा।

(५) जिसमें स्वाभाविक प्रीति है, उसमें ही अपने माने हुए अहंभाव को विलीन करना होगा।

---

१४ अप्रेल १९४१

दीर्घकाल के अभ्यास के कारण जब अस्वाभाविक भाव में स्वाभाविक भाव धारण हो जाता है, तब किसी न किसी कल्पना में अहं फँस जाता है। उसी कल्पना के अनुसार जीवन होने पर उस माने हुए अहंभाव की सद्भावपूर्वक प्रतिष्ठा हो जाती है। यह नियम है कि कल्पना के अनुसार पूर्ण होने पर कल्पित अहंभाव से वैराग्य हो जाता है, अर्थात् कल्पनातीत की रुचि उत्पन्न होती है। प्यारे, रुचि के स्थायी होने पर रुचि प्रेम-पात्र से स्वयं अपने अनुकूल सामग्री ले लेती है। प्रेम-पात्र परमदयालु तथा समर्थ हैं। वह अपने को भी दे देते हैं।

---

२२ अप्रेल १६४१

(१) जिन दोषों को मिटाना है उनका सद्भाव मिटा दो।

(२) वर्त्तमान परिस्थिति को सँभालने का ही प्रयत्न करो, क्योंकि वर्त्तमान के सँभल जाने से बिगड़ा हुआ भूत तथा भविष्य अपने आप सँभल जाता है।

(३) जिस प्रकार सूखी मिट्टी अपने आप झड़ जाती है उसी प्रकार क्रिया-शक्ति का अन्त होने पर शरीर-भाव अपने आप गल जाता है।

(४) करने का अभिमान सच्चाई से मिलने नहीं देता।

(५) 'भोग का रस' करने का अभिमान मिटने नहीं देता।

(६) योग की तीव्र अभिलाषा होने पर भोग का रस मिट जाता है और जब केवल योग की अभिलाषा शेष रहती है, तब प्रेम-पात्र की कृपा से योग स्वयं हो जाता है और फिर कभी वियोग नहीं होता।

(७) भोग से अरुचि प्रत्येक भोगी को होती है, किन्तु जो भोगी उस अरुचि को स्थायी नहीं कर पाता, उसकी ही प्रवृत्ति भोगों में अनेक बार होती है। प्यारे, प्रत्येक प्रवृत्ति स्वाभाविक कुछ काल के लिये निवृत्ति में विलीन होती है। जिनको उस निवृत्ति-काल के रस का अनुभव हो जाता है, वे विचारशील प्रवृत्ति का अन्त करने के लिये प्रयत्न करते हैं। यद्यपि भोग में जो रस है, वह भी निवृत्ति का ही है, परन्तु साधारण व्यक्ति उसे भोग का रस मान लेते हैं। प्यारे, योग की प्राप्ति के लिये भोग की अभिलाषा तथा प्रवृत्ति नहीं रहती, अर्थात्

निवृत्ति होती है। उस क्षणिक-निवृत्ति के रस को योग का रस मान लेते हैं।

---

२७ मई १९४१

अस्वाभाविक में जो स्वाभाविक भाव हो गया है, विचारशील ने उसी का नाम माना हुआ अहं रक्खा है। उस माने हुए अहं का जन्म केवल श्रवणमात्र से तथा प्राकृतिक क्रिया करने की आदत से हुआ है। प्राकृतिक क्रिया करने की जो आदत है, वह भी नित्य नहीं, क्योंकि अक्रिय-अवस्था प्रत्येक क्रिया की होती है, जिस प्रकार बोलने पर न बोलना होता है,क्योंकि यदि न बोलना न हो, तो फिर बोलने की शक्ति नहीं आ सकती। इस युक्ति से यह भली प्रकार सिद्ध हो जाता है कि करने का आदत भी नित्य नहीं है। जो नित्य नहीं है, उससे अहं का जातीय सम्बन्ध नहीं हो सकता। जब क्रिया से तथा मानी हुई कल्पना से, जो श्रवण से उत्पन्न हुई है, जातीय-सम्बन्ध नहीं है, तो फिर उसे माने हुए सम्बन्ध के अतिरिक्त और क्या कह सकते हैं ? प्यारे, जातीय-सम्बन्ध का प्रमाद हो सकता है, अभाव नहीं और माने हुए सम्बन्ध की प्रतीति हो सकती है, स्वरूप नहीं। इसी कारण माने हुए अहं का प्रतीतिमात्र के सिवाय स्वरूप कुछ नहीं है।

यदि उस माने हुए अहं के स्वरूप पर विचार किया जाय तो यही मालूम होता है कि वास्तविक अहं का जो स्वरूप है, माने हुए अहं की वही रुचि अर्थात् अभिलाषा है। प्यारे, अभिलाषा के स्वरूप में 'पूर्ण' ही 'अपूर्ण' प्रतीत होता है, अथवा यों कहो वही कभी तो पूर्ण की अभिलाषा है और कभी पूर्ण है,

जैसे किसी का मित्र कभी याद के स्वरूप में आता है और कभी मिलन के स्वरूप में। गहराई से देखो, अभिलाषा से भिन्न अभिलाषी का स्वरूप कुछ नहीं, क्योंकि अभिलाषा के पूर्ण होने पर अभिलाषी की सत्ता शेष नहीं रहती, किन्तु अभिलाषा से एकता हो जाती है, अर्थात् अभिलाषी स्वयं अभिलाषा को अपने स्वरूप में अनुभव करता है, जिस प्रकार एम० ए० का अभिलाषी एम० ए० होने पर 'मैं एम० ए० हो गया' ऐसा अनुभव करता है, अर्थात् प्रेमी प्रीतम को अपने से भिन्न नहीं पाता। प्यारे, प्रीतम जब रुचि के स्वरूप में होता है, तब प्रेमी कहलाता है। रुचि के पूर्ण होने पर प्रेमी 'प्रीतम' हो जाता है। प्रेमी और प्रीतम के समान ही 'अपूर्ण' तथा 'पूर्ण' को समझो।

आप जिसे अल्पज्ञ कहते हैं, वह तो सर्वज्ञ की ही रुचि है। सर्वज्ञ अल्पज्ञ कैसे हो गया ? यह प्रश्न हीं नहीं बनता, क्योंकि अल्पज्ञ ने सर्वज्ञ की बिना जाने सत्ता कैसे स्वीकार कर ली ? जानना बिना अभेद हुए होता नहीं। अभेद-रहित होने पर तो केवल मानना होता है। मानना यथार्थ-ज्ञान होता नहीं यह सभी जानते हैं। इस युक्ति से यह सिद्ध हो जाता है कि यह प्रश्न सर्वदा गलत है कि सर्वज्ञ कैसे अल्पज्ञ हो गया। जिज्ञासु बेचारा कभी भी बिना जाने स्वीकार नहीं करता। सर्वज्ञ अल्पज्ञ कैसे हो गया ? यह प्रश्न जिज्ञासु का नहीं हो सकता। यह प्रश्न सस्ते छापेखाने ने उत्पन्न कर दिया है। जिज्ञासु का प्रश्न तो केवल यही हो सकता है कि वास्तविक रुचि की पूर्ति किस प्रकार हो सकती है, अथवा यों कहो कि मेरी अपूर्णता मिटकर पूर्णता का अनुभव कब होगा ?

प्यारे, जितना ऊँचा प्रश्न हो, उतनी ही ऊँची दृष्टि से देखना चाहिये। उसके लिये उतनी ही ऊँची योग्यता सम्पादन करना चाहिये। जब पूर्ण की अभिलाषा ही अपूर्णता है तो फिर विचार यह करो कि अभिलाषा उत्पन्न ही कब होती है? अभिलाषा उत्पन्न होने के दो कारण दिखाई देते हैं। क्योंकि सभी अभिलाषाएं केवल दो विभागों में ही बँट जाती हैं, किन्तु एक काल में प्रबलतापूर्वक एक ही अभिलाषा होती है। गहराई से देखो, विषयों की इच्छा होने पर विषयों से भिन्न और कोई सत्ता प्रतीत ही नहीं होती, तो फिर उसे स्वीकार ही क्यों किया जाय ? ऐसा कहना उचित है, किन्तु विचार यह करना है कि क्या कभी विषयों से पूर्ति का अनुभव होता है ? जब पूर्ति का अनुभव नहीं होता, तब पूर्ति की अभिलाषा विषयों से परे सत्ता को स्वीकार करने के लिये बाध्य करती है।

प्यारे, विषयों की इच्छा होने पर ही तो विषयों की सत्ता मानते हो। इसी दृष्टि से पूर्ति की अभिलाषा होने पर पूर्ण की सत्ता मान लो। पूर्ण की सत्ता मानने का अर्थ यह नहीं है कि मानकर ही सन्तोष कर लो, बल्कि मानकर जान लो।

विषयों की इच्छा की तो पूर्ति होती ही नहीं, क्योंकि विषय तथा विषय की इच्छा स्वरूप से कुछ नहीं हैं, केवल प्रतीतिमात्र हैं। विषयों की प्रवृत्ति में जो क्षणिक-पूर्तिसी प्रतीति होती है वह तो केवल प्रवृत्ति न होने की शक्ति-हीनता के अतिरिक्त कुछ नहीं है। देखो, अनेक बार देखा-सुना, पर फिर भी देखने तथा सुनने आदि की रुचि शेष है, यद्यपि सुनते-सुनते कान तथा देखते-देखते आँख बन्द हो जाती है,

परन्तु फिर भी देखने आदि की रुचि शेष रहती है। इससे यही सिद्ध होता है कि विषयों की प्रवृत्ति में शक्तिहीनता होती है, पूर्ति नहीं। इसी कारण विचारशील विषयों की इच्छा का त्याग करते हैं। पूर्णता की अभिलाषा पूर्ण होने पर ही मिट सकती है। पूर्ण होने से पूर्व पूर्णता की अभिलाषा का त्याग नहीं हो सकता है, वह तो पूर्ण होती है, क्योंकि पूर्ण की सत्ता है। विषयों की सत्ता नहीं है, क्योंकि विषयों की इच्छा पूर्ण नहीं होती। शक्ति-हीनता को पूर्णता मान लेना केवल विषयों का राग है।

'शरीर मेरा है' यह आवाज स्वाभाविक है। इस स्वाभा-विक आवाज को मिटाकर जब हम यह धारणा कर लेते हैं कि 'मैं शरीर हूँ', तब विषयों से मानी हुई एकता हो जाती है। यह नियम है कि अभेद-भाव की एकता होने पर 'करना' शेष नहीं रहता, बल्कि एकता के अनुसार प्रतीति तथा स्थिति होती है। इसी कारण 'मैं शरीर हूँ' यह मानी हुई एकता की स्थिति स्वा-भाविक हो गई है, जिसका जन्म केवल प्रमाद अर्थात् भूल के आधार पर है। इस भूल को मिटाने के लिए 'यह शरीर मैं नहीं' यह आवाज काफी है। जब यह भाव कि 'मैं शरीर नहीं' जीवन का स्वरूप हो जाता है, तब सद्भावपूर्वक यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'मैं क्या हूँ।' यह प्रश्न सभी प्रश्नों को खाकर ही उत्पन्न होता है। इस प्रश्न की तीव्र जिज्ञासा होना ही आस्तिकता का उदय है। इस जिज्ञासा के पूर्व तो आस्तिकता केवल कल्पनामात्र है।

स्वाभाविक शरीर-भाव है प्रवृत्ति उसी समय तक जीवित रहती है जब तक कि क्रिया के जगत से भाव के जगत् में

प्रवेश नहीं होता। भाव के जगत् में प्रवृत्ति तब तक रहती है जब तक ज्ञान के जगत् में प्रवेश नहीं होता।

स्वाभाविक इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति होना 'क्रिया का जगत्' है। वर्णाश्रम आदि भावनाओं के अनुसार नियम-बद्ध प्रवृत्त होना 'भाव का जगत्' है। 'मैं क्या हूँ' इस भाव के जागृत होने पर इसकी पूर्ति होना ही 'ज्ञान का जगत्' है। क्रिया के जगत् में आसक्ति होने के कारण शरीर-भाव अनन्त-काल से जीवित है। शरीर-भाव मिटने पर क्रिया की आसक्ति मिट जाती है और क्रिया की आसक्ति मिटने पर शरीर-भाव से ऊपर उठने की रुचि उत्पन्न होती है।

वास्तविक अहं का स्वरूप वास्तविक रुचि से भिन्न कुछ नहीं है। माने हुए अहं के दो स्वरूप हैं—(१) विषयी अहं (२) जिज्ञासु अहं।

अहं जिससे मिला दिया जाता है, उसी को सत्ता देता है, उसी को प्रकाशित करता है, उसी में प्रियता दे देता है। सत्ता का अर्थ सत् है, प्रकाशित का अर्थ चैतन्य है और प्रियता का अर्थ आनन्द है। अहं का वास्तविक स्वरूप सत्, चित्, आनन्द से भिन्न कुछ नहीं।

---

१२ जून १९४१

(१) जो रोग औषधि से ठीक नहीं होता, उसका कारण अदृश्य की मलिनता होती है। अदृश्य की मलिनता शुभ कर्म आदि से दूर होती है, औषधि से नहीं। रोग-निवृत्ति का एक सर्वोत्तम उपाय यह भी है कि यदि रोगी रोगी भाव का

सद्भाव अपने में से निकाल दे तो फिर रोग बेचारा निर्जीव हो जाता है, क्योंकि 'मैं' की सत्ता से सभी सत्ताएँ प्रकाशित होती हैं। यह उपाय सूक्ष्म बुद्धिवाले तथा वीतराग पुरुष कर सकते हैं, क्योंकि विषय-विराग बिना, शरीर-भाव त्याग करने की शक्ति जागृत नहीं होती। शरीर-भाव मिटने पर रोगी-भाव मिटना सुलभ हो जाता है। जो वस्तु जिस काल में जैसी प्रतीत हो, उसको उसी काल में उसी प्रकार का मानना, मानी हुई सत्ता में सद्भाव कराने के सिवाय और कुछ अर्थ नहीं रखता। सद्भाव से प्रतीति में सत्यता आ जाती है, जो दुःख का मूल है।

(२) जब तक अपनी पूर्ति न हो, तब तक जो कुछ मालूम होता हो, उससे अपने को ऊपर उठाते रहना चाहिये, जिससे पूर्ति हो जाय और जिसका त्याग न कर सके, उसमें ही अपने आपको विलीन कर अचिन्त हो, परमानन्द का अनुभव करना चाहिये। आनन्द की अभिलाषा अपने सिवाय और सभी इच्छाओं को खा जाती है। उसके सद्भावपूर्वक जागृत होने पर विषयों की प्रवृत्ति स्वाभाविक मिट जाती है। विषयों की निवृत्ति होते ही योग अपने आप हो जाता है। योग से अभिलाषा-पूर्ति की शक्ति आ जाती है।

(३) जो मानव अपनी अनुभूति का अपने पर पूरा प्रभाव स्वीकार कर लेता है, वही मानव सत्य का अनुभव करने में समर्थ होता है। अतः अपनी अनुभूति का सदा आदर करना चाहिये। अपनी अनुभूति का निरादर करना परम भूल है। जैसी अनुभूति हो, वैसा ही जीवन हो, यही वास्तव में ईमानदारी है। इस ईमानदारी के बिना विचार-मार्ग का

अनुसरण कर नहीं सकता, क्योंकि अनुभूति के आधार पर ही विचार-मार्ग का आरम्भ होता है। जब अनुभूति के अनुसार जीवन हो जाता है, तब आवश्यक अनुभूति फिर बढ़ जाती है। यहाँ तक कि वह अनुभूति उस समय तक निरन्तर बढ़ती रहती है, जब तक कि पूर्णता प्राप्त न हो जाय।

विषयासक्ति के कारण प्राणी अनुभूति का निरादर करता है। विषयासक्ति मिटने पर अनुभूति तथा जीवन दोनों का एक स्वरूप हो जाता है। अथवा यों कहो कि अनुभूति ही जीवन है, क्योंकि सभी क्रियाओं के अन्त में अनुभूति ही शेष रहती है और प्रत्येक क्रिया की उत्पत्ति अनुभूति के ही आधार पर होती है। जिससे उत्पत्ति हो और जिसमें ही लय हो वही वास्तव में सर्वाधार है। प्यारे, अनुभव सत्ता ही सभी मानी हुई सत्ताओं को प्रकाशित करती है। मानी हुई सत्ताओं को त्याग करने पर शुद्ध अनुभवसत्ता ही शेष रहती है, जो आनन्द का भण्डार है। जो प्राणी मानी हुई सत्ता को स्वीकार कर लेता है, उसकी ही करने में प्रवृत्ति होती है। जब करने से पूर्ति नहीं होती, तब जिज्ञासा जागृत होती है। तीव्र जिज्ञासा होने पर जिज्ञासा की पूर्ति के साधन जिज्ञासु में स्वयं उत्पन्न हो जाते हैं। अतः जिज्ञासु अपनी पूर्ति में स्वयं समर्थ है। पूर्ति न होने का कारण केवल जिज्ञासा की कमी है। जिस प्रकार जीवन पूर्ण होने पर मृत्यु हो जाती है, उसी प्रकार जिज्ञासा पूर्ण होने पर अनुभव हो जाता है।

१७ अगस्त १९४१

जो स्वयं प्रकाश है, उसको किसी बाह्य तथा अन्तः इन्द्रियों से नहीं जाना जाता, ऐसा सभी मानते हैं। उसके लिये सिर्फ इतना ही संकेत किया जा सकता है कि सभी क्रियाओं का प्रकाशक स्वयं प्रकाश है।

क्रियाएँ इच्छाओं के आधार पर जीवित हैं,इच्छाएँ अभिलाषा के आधार पर। अभिलाषा सिर्फ पूर्ण होने की है, अथवा यों कहो कि पूर्णता की अभिलाषा ही पर-प्रकाश्य की सत्ता का स्वरूप है। यह सत्ता ज्ञान दृष्टि से काल्पनिक और न्याय-दृष्टि से जड़ है। इस सत्ता से असंग होने पर विवेक की पूर्णता और बोध का आरम्भ हो जाता है। इसी अवस्था में अभ्यास की कमी के कारण जो विवेकी सन्तुष्ट हो जाते हैं, वे कर्त्तापन के भाव से रहित अर्थात् क्रियाओं के साक्षी होकर निजानन्द का अनुभव करते हैं। ऐसा होने पर सभी क्रियाओं के प्रभावों से छूट जाता है। जिस प्रकार वृक्ष कट जाने पर भी कुछ काल तक हरा-हरा दीखता है, उसी प्रकार कर्त्तापन शेष न रहने पर भी क्रियाएँ प्रतीत होती रहती हैं। परन्तु जिसको निजानन्द से सभी इन्द्रियों के दरवाजे रोकना पसन्द है, उसको केवल साक्षी-भाव में सन्तुष्ट नहीं होना चाहिये। उसको तो भावातीत-स्वभाव में पर-प्रकाश्य सत्ता को जिसका कि वह साक्षी था, गला देना चाहिये। यह रस अनन्त तथा अपार है। ऐसे महापुरुष के दर्शन तथा स्पर्श मात्र से ही जीवन बदल जाता है।

आप छकी नैना छके, अधर रहे मुसकाय।
छकी दृष्टि जापर परे, रोम-रोम छकि जाय ॥

२६ अगस्त १६४१

साधारणतया विषय-विराग का अर्थ विषयों में दीनता का अभाव है, विषयों का स्वरूप से त्याग नहीं। ऐसे वैराग्य से अहं-भाव का रूपान्तर होता है, वह गलत नहीं है। अथवा यों कहो कि ऐसे भोक्ता का मूल्य भोग से अधिक बढ़ जाता है। ऐसे भोक्ता का कभी अपमान नहीं होता, बल्कि वह सम्मान पाता है। विषय निवृत्ति होने पर इन्द्रियों के दरवाजे रुक जाते हैं। गहराई से देखो, बाह्य इन्द्रियों का ज्ञान अन्त: इन्द्रियों की अपेक्षा अज्ञान हो जाता है और अन्त:इन्द्रियों का ज्ञान अनुभव-ज्ञान की अपेक्षा अज्ञान हो जाता है। ज्ञान के अनुसार निष्ठा और निष्ठा के अनुसार भाव तथा भाव के अनुसार प्रतीति होती है। जो प्रतीति भाव में और भाव ज्ञान में विलीन नहीं होता, उस प्रतीति का प्रभाव विचारशील पर कुछ नहीं होता, अर्थात् वह निरर्थक होती है। विषय-निवृत्ति ज्ञान से होती है क्रिया से नहीं, क्योंकि विषय की उत्पत्ति अज्ञान से हुई है, स्वरूप से नहीं। प्यारे, जो वस्तु स्वरूप से होती है उसका अभाव नहीं होता।

अस्वाभाविक अहंभाव समाधि तक जीवित रहता है। कर्मवादी विश्व-प्रेम के नाते कर्म करने पर स्थूल कर्मों की पराकाष्ठा करता है। वह जीवन स्थूल जगत् में श्रेष्ठ माना जाता है। अन्य साधक अपने प्रम-पात्र के साथ दास्य, सख्य आदि भावों के अनुसार रमण करते हुए गोलोकादि लोकान्तर का अनुभव करते हैं। यह जीवन स्थूल जगत् से भले ही श्रेष्ठ हो, किन्तु अस्वाभाविक अहंभाव यहाँ भी जीवित रहता है, क्योंकि सूक्ष्म शरीर के बिना कोई भी लोकान्तर में गमन नहीं

कर सकता और कारण-शरीर के बिना समाधि का रस नहीं ले सकता। अतः तीनों शरीरों से असंग होने पर ही अस्वाभाविक अहंभाव मिट सकता है। असंगता कर्म नहीं, बल्कि प्रयत्न है। कर्म और प्रयत्न में भेद है। प्यारे, कर्म के आधार पर कर्त्ता, क्रिया तथा सीमित फल जीवित हैं। कर्त्ता आदि के मिटने पर अनन्त-जीवन अर्थात् पूर्णता का अनुभव होता है। प्यारे, पूर्णता होने पर क्रिया तथा प्रक्रिया का प्रश्न शेष नहीं रहता। क्रिया का अन्त करने के लिए निष्क्रियता साधन है, जीवन का लक्ष्य नहीं।

अस्वाभाविक अहंभाव के अनुसार क्रिया करने पर उस परिस्थिति से अरुचि उत्पन्न होती है, अरुचि से जिज्ञासा तथा जिज्ञासा की पराकाष्ठा होने पर असंगता होती है और असंगता से यथार्थबोध स्वयं हो जाता है।

अहंभाव के परिवर्तन से क्रियाओं का परिवर्तन और अहंभाव के मिटने से क्रियाओं का अन्त होता है। क्रियाओं का निरोध होने पर अहंभाव जीवित रहता है और अहंभाव के मिटने पर कर्त्ता आदि शेष नहीं रहते। अनुभव बुद्धि-द्वारा कथन नहीं किया जा सकता, केवल संकेत किया जा सकता है। गीता आदि भी संकेत ही करती हैं।

प्रकाश ने अन्धकार को नहीं देखा और अन्धकार ने प्रकाश को नहीं देखा। अस्वाभाविक जीवन में स्वाभाविक जीवन की कल्पना बच्चों के बहकाने के सिवाय और कुछ अर्थ नहीं रखती। अस्वाभाविक जीवन अपूर्ण है। अपूर्णता में पूर्णता की अभिलाषा स्वाभाविक होती है। अथवा यों कहो कि अस्वाभाविक जीवन स्वाभाविक जीवन की अभिलाषा का

नाम है। इसके सिवाय अस्वाभाविक-जीवन का स्वरूप कुछ नहीं। प्यारे, जो स्वाभाविक है वही जीवन है, अस्वाभाविकता उस जीवन की अभिलाषा है। यह सभी जानते हैं कि अभिलाषा से भिन्न, अभिलाषी का स्वरूप कुछ नहीं होता और अभिलाषा पूर्ण होने पर अभिलाषी शेष नहीं रहता। शेष वही रहता है कि जिसकी अभिलाषा थी। स्वाभाविक जीवन का स्वरूप वही है जो अभिलाषा है। अभिलाषा एक है, अनेक नहीं और जिसकी अभिलाषा है, वह भी एक है, अनेक नहीं। इस दृष्टि से एक और एक मिलकर एक हो जाते हैं तथा जिज्ञासु अनेक को एक में और एक को अनेक में अनुभव कर, अनेक और एक की कल्पनाओं का अन्त करके कृतकृत्य हो जाता है' अर्थात् कल्पनातीत का अनुभव कल्पनाओं का अन्त होने पर ही हो सकता है।

सन्त-वाणी

(१) राम में तन्मय रहो अथवा राम के नाते से सेवा में तन्मय रहो।
(२) संसार में बड़ा वही है जो संसार के अधीन न हो।
(३) अकेले में मिलना चाहो तो शरीर का भी संग छोड़ के द्रौपदी की भाँति अपनी साड़ी पकड़ो मत, तब कृपा होगी।

गुरु के 'गुरु' को जीवन का स्वरूप बना लेना ही गुरु-भक्ति है, अथवा गुरु से अभिन्न हो जाना ही गुरु-भक्ति है, या गुरु की आज्ञा-पालन ही गुरु-भक्ति है। गुरु का 'गुरु' ही प्रेम-पात्र

से मिलाने में समर्थ है, शरीर नहीं। उपासना 'गुर' की होती है, शरीर की नहीं। उसका सद्भाव करना गुरु-भक्ति है। गुरु का 'गुर' ही वास्तव में गुरु का स्वरूप है।



सन्त-वाणी

गुरु के दिलाये हुए विश्वास को स्वीकृत कर लेना ही गुरु-भक्ति है। विश्वास श्रवण के आधार पर होता है और स्वीकृति निज-अनुभव से होती है। अतः सद्गुरु द्वारा सुना हुआ भाव जब तक निज-अनुभव न हो जाय, तब तक व्याकुलतापूर्वक घोर प्रयत्न करते रहो। वह प्रयत्न ही सद्गुरु की सेवा है, क्योंकि सेवा के बिना भक्ति पूर्ण नहीं होती।



१० सितम्बर १९४१

....भक्त अधम नहीं होते और अधम भक्त नहीं होते, क्योंकि भक्त का स्वरूप विरह तथा मिलन के अतिरिक्त कुछ नहीं होता....।

मिलन की अभिलाषा विषय-इच्छा को खा लेती है। विषय इच्छा निवृत्त होने पर करने की रुचि शेष नहीं रहती। अहं के बदलने पर क्रियायें बदल जाती हैं और मिटने पर मिट जाती हैं। मेरा भक्त परम पवित्र है, अधम नहीं। अहं तथा मन की सभी लीलाओं को मेरे निज स्वरूप से ही सत्ता मिलती है, जो भक्त मेरे को अपने में ही अनुभव करते हैं उनका मन तथा अहं मेरे निजानन्द से ही छक जाते हैं। छका हुआ मन स्वयं अविषय हो

जाता है, अविषय होते ही मन की सत्ता स्वयं कुछ नहीं रह जाती। जब देश काल आदि की दूरी है ही नहीं तो फिर दर्वाजा बन्द कैसा ? दूरी का भाव निकाल दो। अहं में मेरे को देखो। मन को अहं बड़ा प्यारा है। जब अहं को मेरे में देखोगे, तब मन मेरा हो जायगा। मन अहं का मित्र है, शत्रु नहीं क्योंकि अहं से ही मन को जीवन मिलता है। भला कोई भी जीवन-दाता से शत्रुता कर सकता है ? कदापि नहीं। अहं अपनी रक्षा के लिये मन का बहाना बतलाता है।

व्याकुलता से बचने के लिये करने की सूझती है। व्यर्थ चेष्टाओं का निरोध होने पर अभेदभाव के भक्तों को आनन्द और भेदभाव के भक्तों को व्याकुलता स्वयं आ जानी चाहिये। व्याकुलता से बचो मत, बल्कि बढ़ाओ। सूक्ष्मरूप से जो भेद का भाव जीवित है, उसके मिटाने में व्याकुलता ही समर्थ है। उपाय यही है कि चिन्ता छोड़ दो। जो कर सकते हो करो। जो नहीं कर सकते, वह अपने आप होगा। यदि चिन्ता आती है, तो समझ लो कि अभी वह नहीं किया, जो करना चाहिये। क्रिया का रस मत लो, ऐसा करने से आवश्यक क्रियाएँ अपने आप हो जायेंगी और व्यर्थ-चेष्टाओं का निरोध भी हो जायेगा। क्रिया का रस व्यर्थ-चेष्टाओं का निरोध नहीं होने देता। उस रस को व्याकुलता जलायेगी।

अपनी परम पवित्रता पर पूरा विश्वास करो। भक्त प्रतीक्षा नहीं करते, बल्कि भगवान् भक्त की प्रतीक्षा करते हैं।

---

२ अक्टूबर १९४१

एक ही में अनेक का अन्त करना एकान्त है, अकर्त्तव्य के त्याग से तो केवल बुद्धि आदि सम हो जाते हैं, बुद्धि आदि का सम होना कर्त्तव्य है, क्योंकि सभी प्रकार की शक्तियों का संचय निर्विषय होने पर ही होता है। विषय-प्रवृत्ति अस्वाभाविक जीवन है, जो आसक्ति के कारण स्वाभाविक सा हो गया है। उसका शेष न रहना कर्त्तव्य-पालन है। कर्त्तव्य-पालन साधन है, साध्य नहीं। रोग यही है कि 'मैं रोगी हूँ।' औषधि यही है कि 'मैं सर्वदा आरोग्य हूँ।' क्योंकि आरोग्यता से जातीय एकता है। प्यारे, जातीय एकता का अभाव नहीं होता, प्रमाद होता है। इसी कारण आरोग्यता के लिये पूर्ण स्वतन्त्रता है। यदि एक बार भी अपनी पूरी शक्ति से यह आवाज लगा दो कि 'मैं आरोग्य हूँ' तो रोग भाग जायेगा।

अपने जातीय स्वरूप का आदर करो। जो निज-स्वरूप का आदर करता है वह गुरु, ईश्वर तथा संसार आदि को अपने ही में पाता है, क्योंकि इन सबका अधिष्ठान तो एक ही है। आदर करने वाले का निरादर कोई नहीं कर सकता और निरादर करने वाले का आदर कोई नहीं करता। यदि गहराई से देखो, तो यह अनुभव होगा कि सबसे अधिक प्रियता अपने में है।

जो नहीं कर सकते, उसे करने के लिये कोई नहीं कहता, और न किसी को उसे करने की चिन्ता होती है। किसी प्रकार की भी चिन्ता का जीवित रहना यह सिद्ध करता है कि जो कर सकते हैं, वह नहीं करते। चिन्ता नास्तिक को

होती है, आस्तिक को नहीं, क्योंकि जिस प्रकार प्रकाश और अन्धकार एक स्थान में नहीं रह पाते, उसी प्रकार आस्तिकता और चिन्ता एक स्थान में नहीं रहने पाते। सर्वदा अभय रहो।

---

१२ अक्टूबर १९४१

अपने में निर्दोषता का भाव स्थापित करने पर सभी दोष स्वयं मिट जाते हैं। दोषों का सद्भाव दोषों को निमन्त्रण देकर बुलाने के सिवाय और कुछ अर्थ नहीं रखता। विषयी संसार को, भक्त भगवत् तत्त्व को और जिज्ञासु यथार्थ ज्ञान को प्राप्त करता है। अहंभाव का परिवर्तन होने पर क्रिया तथा भाव का परिवर्तन स्वयं हो जाता है और अहंभाव के मिटने पर सब कुछ मिल जाता है। भविष्य की आशा वर्तमान में सफल नहीं होने देती, क्योंकि आशा के आधार से व्याकुलता दब जाती है। अनुभव उसका ही करना है, जो वर्तमान में मिल सकता है। भोग के लिये भविष्य की आशा आवश्यक है, क्योंकि वह कर्म से प्राप्त होता है। प्रेम-पात्र के लिये भविष्य की आशा आवश्यक नहीं, क्योंकि वह त्याग से प्राप्त होता है। अपना मूल्य बढ़ाओ। जो आपका है, वह आपके बिना नहीं रह सकता। अतः कृपा में संदेह करना परम भूल है। शरणागति-भाव भक्तियोग का अन्तिम साधन है, जो सिर्फ जीवन में एक बार आता है। उसके आते ही भक्त भगवान् से अभिन्न हो जाता है और फिर कुछ भी करना शेष नहीं रहता।

---

२५ अक्टूबर १९४१

जिस अभिलाषी को अपनी अभिलाषा पर सद्भावपूर्वक दृढ़ता होती है, उसकी वह अभिलाषा स्वयं पूर्ण होती है।

प्रेमी प्रथम अपने स्वभाव के अनुसार प्रेम-पात्र से सम्बन्ध करता है, इस अवस्था के आ जाने पर अपनी सीमित वस्तुओं का सदुपयोग करने का सौभाग्य प्राप्त होता है। परन्तु प्रेम-पात्र की प्रसन्नता तो तब होती है, जब प्रेमी अपने स्वभाव को मिटाकर प्रेम-पात्र से अभिन्न होता है। प्रेम-पात्र के स्वभाव का अनुकरण करते ही प्रेमी सभी चेष्टाओं से मुक्त हो जाता है, बल्कि यों कहो कि प्रेम-पात्र प्रेमी और प्रेमी प्रेम-पात्र हो जाता है।



किसी को बुलाओ मत, क्योंकि जो आपका है, वह आपके बिना रह नहीं सकता, अर्थात् अपने प्रेम-पात्र को निरन्तर अपने में ही अनुभव करो। अतः इन्द्रिय आदि को निजानन्द से भर दो। अपने सिवाय अपने लिये अपने से भिन्न की आवश्यकता नहीं है,ऐसी धारणा होने पर हृदय आनन्द से स्वयं छक जायेगा, अर्थात् स्थान खाली होने पर आनन्द स्वयं आ जायेगा। जो आकर नहीं जाता वही आनन्द है।

जो जा रहा है उसको मत रोको, क्योंकि उससे जातीय भिन्नता है। गहराई से देखो, शरीर आदि सभी वस्तुएँ निरन्तर जा रही हैं। जाने वाली वस्तुओं से विमुख हो जाना ही स्वाभाविक नित्य-जीवन की ओर जाना है। जाने वाली वस्तुओं को रोकने का प्रयत्न करना ही अस्वा-

भाविकता को जीवित रखने का उपाय, अर्थात् माने हुए अहं की रक्षा करना है, जो विचारशील को नहीं करना चाहिये।

जो स्वय आया है, उसे हटाओ मत, बल्कि उसको पूरा स्थान दो, क्योंकि वह कुछ सिखाने के लिये आया है। गहराई से देखो, जीवन की प्रत्येक परिस्थिति का सदुपयोग करने पर वह परिस्थिति उन्नति का साधन हो जाती है। अतः आई हुई परिस्थिति का स्वागत करते हुए उसका सदुपयोग करने का प्रयत्न करो। यह भली प्रकार समझ लो कि आने वाली सभी वस्तुएँ स्वयं चली जाती हैं। उनके हटाने का प्रयत्न शक्ति को क्षीण करने के सिवाय कुछ अर्थ नहीं रखता। अपने में अविचल भाव से रहने का स्वभाव बनाओ, आने-जाने वाले की ओर लेश-मात्र भी न देखो।

व्यक्तिभाव से किसी के गुण तथा दोष मत देखो, क्योंकि ऐसा करने में अपने में व्यक्ति-भाव आ जाता है, जा परम भूल है। अपने में से व्यक्ति-भाव निकाल देने पर विश्व से एकता अनुभव होती है।

सर्वथा अचिन्त तथा अभय रहो। सभी चिन्ताओं को विचार की अग्नि में जला दो। स्वधर्म-निष्ठा निरन्तर बढ़ती रहनी चाहिये। अपनी समर्थता तथा परम पवित्रता पर सर्वदा विश्वास करो। दीनता तथा दुर्बलता का अन्त कर दो। राग-द्वेष का नितान्त अन्त होने पर व्यक्ति-भाव मिट जाता है। त्याग तथा प्रेम के आ जाने पर मानी हुई सत्ता से असंगता तथा जातीय सत्ता से अभिन्नता हो जाती है।



२ फरवरी १९४२

आपके लिये यदि 'नित्य जीवन' कल्पनामात्र है, तो फिर वर्त्तमान जीवन का स्वरूप क्या है ? गहराई से देखो, अनित्य-जीवन अर्थात् वर्त्तमान जीवन 'नित्य जीवन' की अभिलाषा से भिन्न और क्या हो सकता है ? अर्थात् कुछ नहीं। वर्त्तमान जीवन, नित्य जीवन की अभिलाषा है। अभिलाषा जीवित इस-लिये है क्योंकि पूर्ण नहीं हुई। पूर्ण इसलिये नहीं हो पाती, क्योंकि क्रिया तथा भाव की खुराक मिल जाती है। अथवा यों कहो कि अनित्य जीवन की खुराक क्रिया तथा भाव का रस है। परम-प्रेम अपने में हो सकता है, भिन्न में नहीं। अतः प्रेम को अपनाओ। प्रेम क्रिया तथा भाव से परे है। क्रिया तथा भाव से कुछ माँगना होता है, और प्रेम में देना होता है। माँगने की आदत लोभी को होती है, प्रेमी को नहीं, इसी कारण लोभी बेचारा प्रेम का रस चख नहीं पाता। देना सीखो। यदि दे दिया तो बोझ कैसा कमी कैसी ? अपनी कमी का बोझ अपने ऊपर रख लेना अपने भाव को दुर्बल करना है। भाव तथा क्रिया अनेक बार इसलिये आते हैं, क्योंकि पूर्ण नहीं हो पाते। अतः भाव के पूर्ण होने पर भाव मिट जायेगा। भक्त की कमी भक्त की नहीं होती, बल्कि उसकी होती है जिसका भक्त है। जिसमें कमी हो, उसका भक्त होना नहीं चाहिये। फिर न मालूम भक्त को अपने में कमी कहाँ से दिखाई देती है। पूर्ण से विभक्त होने पर कमी का अनुभव होता है। भक्त होने पर विभक्त हो नहीं पाता। अतः भक्त में कमी शेष नहीं रहती, यह निर्विवाद सिद्ध है।

कमी किसी गुण के आधार पर जीवित है, क्योंकि कमी

बेचारी इतनी निर्बल है कि अकेली रह नहीं पाती। जो प्राणी अपनी कमी को देख लेता है, उससे कमी निकल जाती है। प्यारे कमी चोर के समान है उसे किसी ने देख नहीं पाया, क्योंकि वह देखते ही भग जाती है। सभी प्राणी यह जानते हैं कि सूर्य ने अन्धकार देखा नहीं, किन्तु कथन यह करते हैं कि सूर्य ने अन्धकार मिटा दिया। प्यारे,क्या सूर्य में कभी अन्धकार था ? अर्थात् नहीं था। किसी गुण की आसक्ति है, जिसके आधार पर कमी का कथन होता है।

वियोग जीवन की आवश्यक वस्तु है, अथवा यों कहो कि प्रेम-पात्र का अन्तिम संदेश है।



१० फरवरी १९४२

अनेक क्रियाओं तथा भावों को एक ही अर्थ में विलीन कर दो, अर्थात् कुल जीवन एक निष्ठा हो जाय। प्रथम विचारपूर्वक शान्त चित्त से यह भली प्रकार समझ लो कि विषय-प्रवृत्ति पूर्ति का साधन नहीं, अथवा यों कहो कि संसार से पूर्ति की आशा करना परम भूल है, क्योंकि विषय-प्रवृत्ति से भिन्न संसार कुछ नहीं।

प्यारे, स्वाभाविक अभिलाषा की पूर्ति के लिये स्वाभाविक जीवन को अपना लेना आवश्यक है। गहराई से देखो, निवृत्ति के समान जीवन में और कुछ स्वाभाविक नहीं दिखाई देता, क्योंकि अनेक प्रयत्न करने पर भी प्रत्येक प्रवृत्ति स्वयं निवृत्ति में बदल जाती है, ऐसा प्राय: सभी प्राणियों का अनुभव है। परन्तु निज अनुभव का आदर न करने के कारण बेचारे प्राणी मार्ग की खोज में भटकते रहते हैं। प्रेम-पात्र के नित्य रस तक

पहुँचाने के लिये एकमात्र निवृत्ति ही परम साधन है। प्रवृत्ति का सूक्ष्म स्वरूप क्या है? करने का भाव। अथवा यों कहो कि करने के आधार पर स्थायी प्रसन्नता के लिये भविष्य की आशा। गहराई से देखो, यदि भविष्य की आशा न हो, तो किसी प्रकार की प्रवृत्ति जीवित नहीं रह सकती। भविष्य की आशा प्रत्येक प्रवृत्ति का मूल कारण है। भविष्य की अभागी आशा पूर्ण व्याकुलता होने नहीं देती। अतः भविष्य की आशा निकाल दीजिये, व्याकुलता अपने आप आ जायेगी। व्याकुलता प्रत्येक प्रवृत्ति के मिटाने में सर्वदा समर्थ है।

व्याकुलता बढ़ जाने पर इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी निर्जीव मशीन की भाँति हो जाते हैं, अर्थात् इन सबकी क्रियाओं का प्रभाव कुछ नहीं रहता।

यह समझने पर भी कि प्रवृत्ति पूर्ति का साधन नहीं है, प्रवृत्ति बनी ही रहती है, उससे किस प्रकार छुटकारा मिले? उस छुटकारे के लिये ही धर्म के प्रथम अंग का अनुसरण करना है। धर्म का प्रथम अंग क्या है? 'मैं सबका हूँ' अर्थात् 'जिसने मुझे जो माना है, मैं उसके लिये वही हूँ' ऐसा मानकर माने हुए के अनुसार जो कर सकते हो कर देना चाहिये।

करते समय कर्त्ता को बचाना नहीं चाहिये, किन्तु क्रिया का अन्त होने पर उससे सम्बन्ध भी नहीं रखना चाहिये। इस दृष्टि से प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में पूर्ण-त्याग का अनुभव होगा। प्रवृत्ति-काल में हृदय पूर्ण प्यार से लहराता रहेगा, जो व्यवहार में प्रेम के नाम से कहा जाता है। वास्तव में तो प्रेम ज्ञान का दूसरा नाम है, अतः जीवन का स्वरूप त्याग तथा

प्रेम हो जायेगा। इस भाव को इतना बढ़ाओ कि प्रत्येक प्रवृत्ति में पूर्ण रस आवे, अर्थात् सभी छोटी-बड़ी प्रवृत्तियों का एक अर्थ हो जाय और निवृत्ति में भी प्रवृत्ति के समान ही रस बना र। ऐसा करने से प्रवृत्ति निवृत्ति का भेद मिट जायेगा। प्रवृत्ति निवृत्ति का भेद मिटते ही अपने से भिन्न की प्रतीति न होगी अर्थात् मानी हुई सत्ता की स्वीकृति मिट जायेगी।

साधारण प्राणी प्रवृत्ति-काल में निवृत्ति का चिन्तन और निवृत्ति-काल में प्रवृत्ति का चिन्तन करते रहते हैं। वास्तव में चिन्तन नहीं करना चाहिये, बल्कि प्रवृत्ति-काल में पूर्ण प्रवृत्ति और निवृत्ति-काल में पूर्ण-निवृत्ति होनी चाहिये और उन दोनों का अर्थ भी समान होना चाहिये। किसी का भी चिन्तन करना विचारशील को शोभा नहीं देता, क्योंकि चिन्तन व्यर्थ-चेष्टा है। चिन्तन करने की व्यर्थ-चेष्टा उसी समय तक जीवित रहती हैं, जब तक हृदय तथा दिमाग में भिन्नता होती है।

धर्म का दूसरा अंग माने हुए को निकाल देना है। प्रथम अंग का पालन करने पर विश्व से एकता और दूसरे अंग का पालन करने पर सत्य का अनुभव हो जाता है। प्रथम अंग का पालन करने पर हृदय निर्वैरता से भर जाता है और दूसरे अंग का पालन करने पर विश्व की सत्ता अपने में ही विलीन हो जाती है, अर्थात् अपने से भिन्न शेष नहीं रहता।

---

८ अप्रेल १९४२

संयोग की अपेक्षा वियोग सबल तथा स्वतन्त्र है, अतः उसको अपनाइये जो प्राणी सयोग में ही पूर्ण वियोग का अनुभव कर लेते हैं और वियोग होने पर सत्ता स्वीकार नहीं

करते, वे वर्तमान में ही तत्त्व-साक्षात्कार कर कृतकृत्य हो जाते हैं। संयोग में वियोग अनुभव करने से तत्त्व-साक्षात्कार हो जाता है और वियोग होने वाली वस्तुओं की सत्ता स्वीकार न करने से तत्त्व-निष्ठा हो जाती है। तत्त्व-साक्षात्कार होने पर शान्ति और तत्त्व-निष्ठा होने पर शक्ति अपने आप आ जाती है।

संयोग में वियोग अनुभव करने की दो अवस्थाएँ हैं। प्रथम अवस्था यह है कि संयोग-काल में भी ऐसा भाव उदय हो, कि यह सब कुछ मिट रहा है। इस भाव के उदय होने पर पवित्र व्याकुलता आ जाती है, जो संयोग से पूर्ण वियोग कर नित्य-योग कर देती है। पहली अवस्था में बुद्धि का व्यापार जीवित रहता है और दूसरी अवस्था में बुद्धि आदि से असंगता होती है, अथवा यों कहो कि बुद्धि का सदुपयोग होने से बुद्धि छूठ जाती है।

प्यारे, प्रवृत्ति वही जीवित है जो पवित्रतापूर्वक पूर्ण नहीं हुई। पवित्रतापूर्वक की हुई सभी प्रवृत्तियाँ स्वयं निवृत्ति में विलीन हो जाती हैं। बार-बार मिलने का भाव न मिलने को सिद्ध करता है, ऐसा निरादर कब तक करते रहोगे ? क्या कोई भी प्रेमी प्रेम-पात्र से दूरी पसन्द करता है, अथवा कोई भी प्रेमी प्रेम-पात्र से अपने को बचाता है ? प्यारे, जो अपने को नहीं बचाता, वह अपने में ही प्रेम-पात्र का अनुभव करता है। गहराई से देखो, अपने समान और कोई प्रिय नहीं। उस अत्यन्त प्रिय अपने में ही अपने प्रेम-पात्र का अनुभव करना सच्चा सम्बन्ध है। क्रिया तथा भाव द्वारा किया हुआ सम्बन्ध केवल व्यापार है। अथवा यों कहो कि मानी हुई अहंता के जीवित रखने का उपाय है।

१४ अप्रैल १९४२

प्रवृत्ति-काल में पूर्णप्रवृत्ति का अर्थ कार्य-कुशलता है, अर्थात् संसार में रहने का सबसे अच्छा ढंग है। ऐसा करने से निवृत्ति काल में प्रवृत्ति का चिन्तन नहीं होता। जिस प्राणी को प्रवृत्ति का चिन्तन नहीं होता, उसको निवृत्ति-काल में योग स्वयं हो जाता है। योग से शक्ति-संचय होती है, तत्त्व-साक्षात्कार नहीं। शक्ति कल्पतरु है, अर्थात् इच्छाओं की पूर्ति में समर्थ होती है। परन्तु तत्त्व-साक्षात्कार कल्पतरु का भी कल्पतरु है, क्योंकि शक्ति को भी शक्ति देता है। अथवा यों कहो कि तत्त्व-साक्षात्कार से इच्छाओं की निवृत्ति होती है और योग से इच्छाओं का निरोध होता है।

संयोग में ही वियोग का अनुभव करने से, वर्त्तमान में ही तत्त्व-साक्षात्कार हो जाता है। संयोग में ही वियोग का अनुभव वह प्राणी नहीं कर सकता, जो प्रवृत्ति-काल में पूर्ण प्रवृत्ति और निवृत्ति-काल में पूर्ण निवृत्ति नही रखता।

प्यारे, निवृत्ति तथा प्रवृत्ति अवस्थाएँ हैं। निवृत्ति तथा प्रवृत्ति दोनों से वियोग का अनुभव करना ही संयोग में वियोग का अनुभव करना है। निवृत्ति तथा प्रवृत्ति का अभिमान मानी हुई अहंमता के आधार पर जीवित है। प्रवृत्ति-काल में मानी हुई अहंता कार्यरूप में होती है और निवृत्ति काल में मानी हुई अहंता कारणरूप में होती है। निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों से ही संयोग होता है। उस संयोग से अपना वियोग कर लेना तत्त्व-साक्षात्कार का सर्वोत्तम साधन है। जिस प्रवृत्ति तथा निवृत्ति का वियोग हो जाय, उसकी सत्ता को स्वीकार न करना तत्त्व-निष्ठा का सर्वोत्तम साधन है।

तत्त्व-साक्षात्कार तथा तत्त्व-निष्ठा हो जाने पर शक्ति तथा शान्ति स्वयं आ जाती है।

सन्त-वाणी

१४ अप्रेल १९४२

प्राकृतिक नियम के अनुसार अपने स्वभाव के अनुरूप उत्पन्न होकर प्रत्येक वस्तु प्रथम विकास पाती है और फिर वह विकास स्वाभाविक ही विलीन होने लगता है, यहाँ तक कि अन्त में उसका अभाव हो जाता है। परन्तु यदि विकास काल में किये हुए उपभोग का रस जीवित रहे, तो वह वस्तु फिर अव्यक्त-तत्त्व से शक्ति पाकर उत्पन्न होती है। अतः रस की आसक्ति के कारण उत्पत्ति तथा लय का चक्र निरन्तर चलता रहता है। इस नियम को देख विचारशील तत्त्व-वेत्ताओं ने जीवन को चार विभागों में विभक्त कर दिया है।

प्रथम, रुचि के अनुसार गुणों को एकत्र करना, फिर रुचि की पूर्ति के लिये एकत्रित किये हुए गुणों का उपभोग करना, तदनन्तर भोग का यथार्थ-ज्ञान कर उदासीनतापूर्वक भोग को योग में बदल देना और फिर योग से असंग होकर अर्थात् योग तथा भोग दोनों का अभाव कर निर्विशेष अर्थात् कल्पनातीत सर्वोत्कृष्ट निर्दोष तत्त्व से अभिन्न हो जाना, यही क्रम प्रत्येक क्रिया में होना चाहिये। जो क्रिया की जाय, अन्त में उससे उदासीन होकर उसके अभाव का अनुभव करना अनिवार्य है। प्रथम माने हुए भाव के अनुसार करना सीखो फिर प्रत्येक क्रिया से उदासीन होकर योग का अनुभव

करो तथा योग से शक्ति-संचय कर, त्याग के शरणापन्न हो, क्रिया का अभाव कर, अपने ही में अपने प्रेम-पात्र का अनुभव करो।

जीवन में उलझन तब आती है, जब हम प्राकृतिक नियम का तिरस्कार करते हैं। गहराई से देखिये, किसी भी परिस्थिति की किसी भी काल में स्थिति नहीं होती, परिवर्तन का क्रम ही उत्पत्ति तथा लय के नाम से कहा जाता है, क्योंकि किसी का लय होना ही किसी की उत्पत्ति तथा किसी की उत्पत्ति ही किसी का लय होना है। स्थिति की भावना तो बुद्धि का पूर्ण उपयोग न करने पर प्रतीत होती है। उत्पत्ति भी राग के आधार से प्रतीत होती है, क्योंकि इच्छा बिना राग के नहीं होती और इच्छाशक्ति के बिना किसी भी वस्तु की उत्पत्ति तथा प्रतीति नहीं होती। राग वस्तुओं की स्थिति स्वीकृत होने पर होता है। वस्तुओं की स्थिति का स्वीकार करना बुद्धि का प्रमाद है। अतः उसके विपरीत करना बुद्धि का सदुपयोग है। बुद्धि का सदुपयोग होते ही प्राकृतिक संस्कृति का अनुसरण हो जाता है, प्राकृतिक संस्कृति का अनुसरण करते ही वस्तुओं, अवस्थाओं तथा परिस्थितियों से अरुचि हो जाती है, अर्थात् उसको फिर परिस्थिति आदि का बन्धन नहीं रह जाता।

परिस्थिति आदि से मुक्त होते ही अपने ही में अपने प्रेम-पात्र का अनुभव स्वयं होता है। प्यारे, सच्चाई सुगमतापूर्वक प्राप्त की जा सकती है, किन्तु झुठाई में सच्चाई की भावना करने पर सच्चाई किसी प्रकार नहीं मिल सकती।

---

१४ मई १९४२

भक्त अपनत्व करता है और प्रेम-पात्र प्रेम करते हैं। अपनत्व की पूर्णता होने पर सभी क्रियाओं का अभाव अपनत्व के भाव में विलीन हो जाता है और फिर कुछ भी करना शेष नहीं रहता।

---

२९ मई १९४२

यदि भिखारी बनना पसन्द है, तो ऐसे भिखारी बनो कि दाता को ही भिक्षा में ले लो, जिससे बार-बार माँगना शेष न रहे। दृष्टि को दृश्य से हटा लो। चित्त को निराधार कर दो। परतन्त्रता पूर्वक जीवित रहने से स्वतन्त्रतापूर्वक मर जाना अच्छा है जो आपके बिना किसी प्रकार भी रह सकता है, उसकी ओर मत देखो। आप उसके दरके भिखारी हैं, जो निरन्तर आपकी प्रतीक्षा करता है। प्यारे, प्रेम-पात्र को प्रेमी के सिवाय और कहीं स्थान नहीं मिलता, क्योंकि प्रेम-पात्र वहाँ निवास करते हैं जहाँ स्थान खाली हो। प्रेमी का स्वरूप प्रेमपात्र की अभिलाषा है, और कुछ नहीं। अतः यह निर्विवाद सत्य है कि प्रेमी के बिना प्रेम-पात्र किसी प्रकार नहीं रह सकते।

सन्त-वाणी

१२ जून १९४२

जो नहीं करना चाहिये उसके न करने से जो करना चाहिये वह उत्पन्न होता है। गहराई से देखिये, प्राकृतिक नियम

के अनुसार आँख देखने में स्वतन्त्र तथा सुनने में परतन्त्र है। आँख को कभी सुनने की अभिलाषा नहीं होती, जब होती है तब देखने की होती है। अतः प्रत्येक कर्त्ता कर्त्तव्य-पालन में स्वतन्त्र है। परतन्त्रता जीवन में तब आती है, जब प्राणी आसक्ति के कारण दूसरे के कर्त्तव्य को अपना कर्त्तव्य बनाता है। उन क्रियाओं का त्याग करो, जिनके करने में लेशमात्र भी परतन्त्रता अनुभव होती हो। जीवन में स्वाधीनता आ जाने पर सच्चाई और सच्चाई आ जाने पर स्वाधीनता आ जाती है। परतन्त्रता-पूर्वक सच्चाई प्राप्त नहीं की जा सकती। परतन्त्रतापूर्वक तो वही मिलती है कि जिससे जातीय एकता नहीं होती, क्योंकि परतन्त्रतापूर्वक प्राप्त की हुई सभी वस्तुएँ अपने आप चली जाती हैं।

---

१६ जून १९४२

अपने में से विषयी भाव को निकाल दो। अहंता के विपरीत प्रवृत्ति नहीं होती। अपने में ही अपने प्रेम-पात्र की स्थापना कर लो। यही परम भजन है। जो प्राणी अपने से भिन्न में अपने प्रेम-पात्र को देखते हैं, उनका प्रेम-पात्र से योग नहीं होता बल्कि संयोग होता है।

संयोग तथा योग में भेद है। संयोग का वियोग अनिवार्य है, योग का वियोग नहीं होता। योग एक बार और संयोग अनेक बार होता है। दृष्टि को दृश्य के बिना स्थिर कर लो, व्यक्त तथा अव्यक्त दोनों ही दृश्य हैं। दोनों प्रकार के दृश्यों से असंग होते ही अपने में ही अपने प्रेम-पात्र का अनुभव होगा। निराधार हो जाने पर ही चित्त पूर्ण स्वस्थ

होगा। सुख का अन्त कर दो। व्याकुलता की शरण लो। व्यर्थ चेष्टाओं का निरोध करो। ऐसा करने से व्याकुलता अथवा शान्ति स्वयं आ जायेगी। आगे पीछे का चिन्तन मत करो। संसार में संसार के लिये रहो,अपनेलिये नहीं। अपने लिये अपने सिवाय और किसी की ओर मत देखो। जिसको संसार में रहना आ जाता है, वह अवश्य ससार से पार हो जाता है।

सन्त-वाणी

प्रेमी तथा प्रेम-पात्र का विवरण

प्रेम प्रेम-पात्र करते हैं, प्रेमी नहीं, क्योंकि प्रेम वह कर सकता है, जिसको अपने लिये कुछ भी आवश्यकता न हो। प्रेमी को प्रेम-पात्र की आवश्यकता होती है, अतः प्रेमी बेचारा प्रेम नहीं कर पाता।

प्रेमी केवल प्रेम-पात्र से अपनत्व करता है। अपनत्व परम पवित्र तथा सबल भाव है, क्योंकि अपनत्व हो जाने पर और किसी प्रकार की योग्यता सम्पादन करना शेष नहीं रहता। अपनत्व वह बल है, जिसके आ जाने पर प्रेम-पात्र प्रेमी का स्मरण, चिन्तन और ध्यान करते हैं, अथवा यों कहो कि प्रेमी को प्रेम-पात्र प्यार करते हैं। प्रेम-पात्र के प्यार के सिवाय और किसी का प्यार स्वीकार न करना प्रेमी का परम कर्त्तव्य है।

जब तक प्रेमी को प्रेम-पात्र का प्रेम नहीं मिलता, तब तक प्रेमी असह्य व्याकुलता का अनुभव करता है। पवित्र

व्याकुलता प्रेमी का स्वरूप है। उस व्याकुलता को अखण्ड आनन्द में विलीन कर देना प्रेम-पात्र का प्रेम है, अतः यह भी भली प्रकार सिद्ध हो जाता है, कि प्रेम-पात्र प्रेम करते हैं और प्रेमी अपनत्व करता है।

पूर्ण अपनत्व करने के लिये अस्वाभाविक संयोग अर्थात् माने हुए संयोग काल में ही वियोग अनुभव करना परम अनिवार्य है, क्योंकि सद्भावपूर्वक पूर्ण अपनत्व दो विरोधी सत्ताओं में नहीं हो सकता है।

अनेक माने हुए संयोगों में से जब कभी किसी एक संयोग का वियोग होता है,तब प्राणी घोर व्याकुलता का अनुभव करता है। यदि सभी संयोगों का वियोग हो जाय, तब कितनी उत्कट व्याकुलता होगी, वह कहने में नहीं आती, जो प्राणी उस अनन्त व्याकुलता से बचने का प्रयत्न करता है, वह सच्चा प्रेमी नहीं हो सकता। जिस प्रकार सभी का वियोग होने पर घोर व्याकुलता का अनुभव होता है, उसी प्रकार स्वाभाविक नित्य योग होने पर अपार असीम अखण्ड आनन्द का अनुभव होता है।

स्वाभाविक नित्य योग प्राप्त करने में प्राणी सर्वदा स्वतन्त्र है, क्योंकि अस्वाभाविक संयोग का वियोग तो बिना ही प्रयत्न हो जाता है। साधारण प्राणी वियोग-काल में भी सयोग का भाव केवल मानते रहते हैं। उस मानी हुई भावना में सद्भाव होने के कारण वियोग से उत्पन्न होने वाली परम पवित्र व्याकुलता प्रकाशित नहीं हो पाती। व्याकुलता के बिना स्वाभाविक नित्य-योग सर्वथा असम्भव है; अतः अस्वाभाविक संयोग में वियोग का अनुभव करना प्रेमी के लिये आवश्यक है। अस्वा-

भाविक संयोग दो प्रकार के होते हैं; 'यह मैं हूँ' अथवा 'यह मेरा है' अर्थात् कुछ वस्तुओं को अपने में रख लिया जाता है और कुछ वस्तुओं में अपने को रख दिया जाता है। जिन वस्तुओ में अपने को रख दिया जाता है, उन वस्तुओं के प्रति 'ये मेरी हैं' ऐसा भाव रहता है और जिन वस्तुओं को अपने में रख लिया जाता है, उनमें 'यह मैं हूँ' ऐसा भाव रहता है।

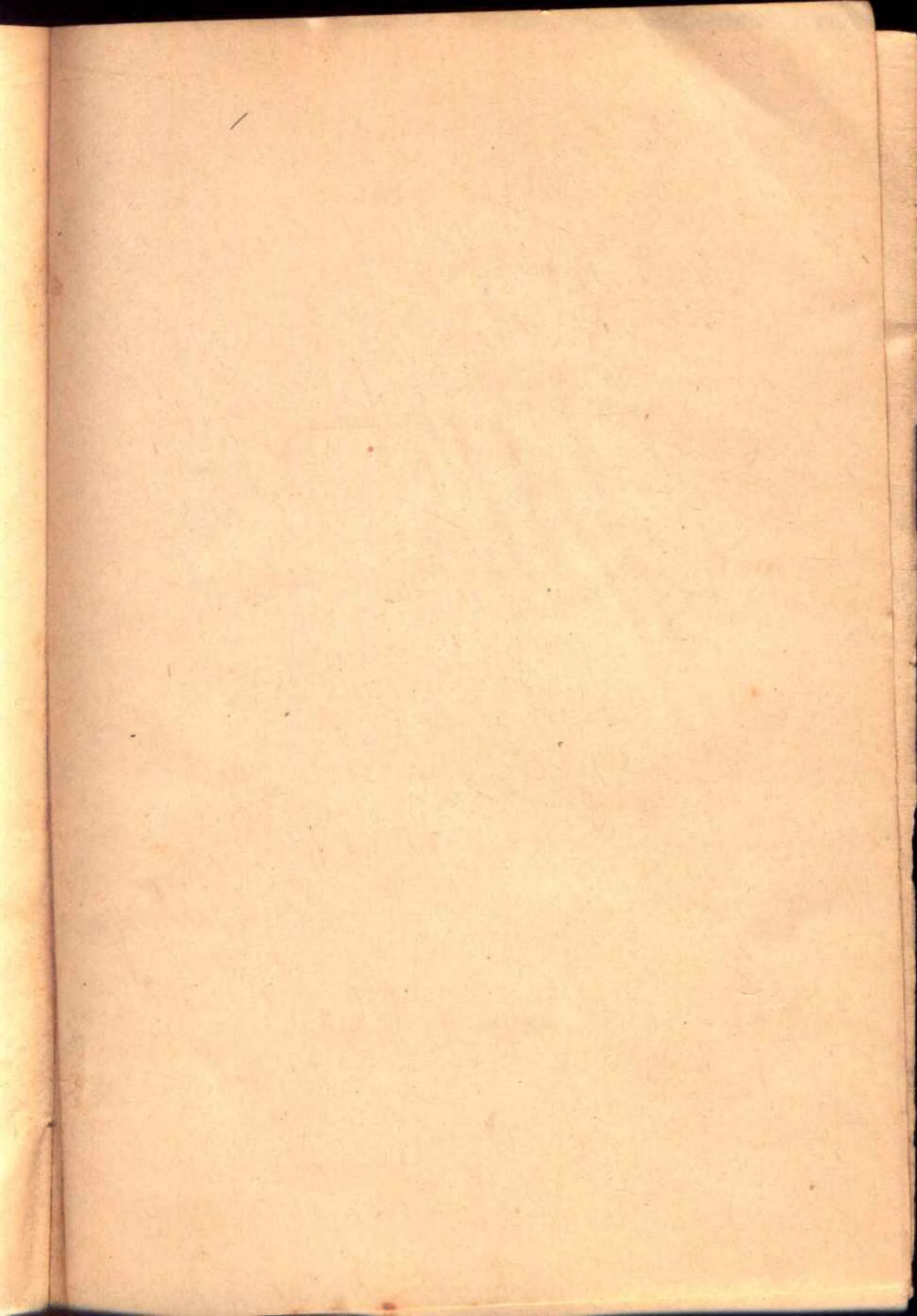
प्रथम अपने को जिन वस्तुओं में रख दिया है, उनसे हटा लो, क्योंकि अपने में वस्तुभाव अथवा सीमित भाव अथवा अवस्थाभाव आने पर ही संसार की अनेक वस्तुओं की आवश्यकता होती है। यदि अपने में से वस्तु आदि का भाव निकाल दिया जाय तो फिर किसी भी वस्तु की आवश्यकता शेष नहीं रहती।

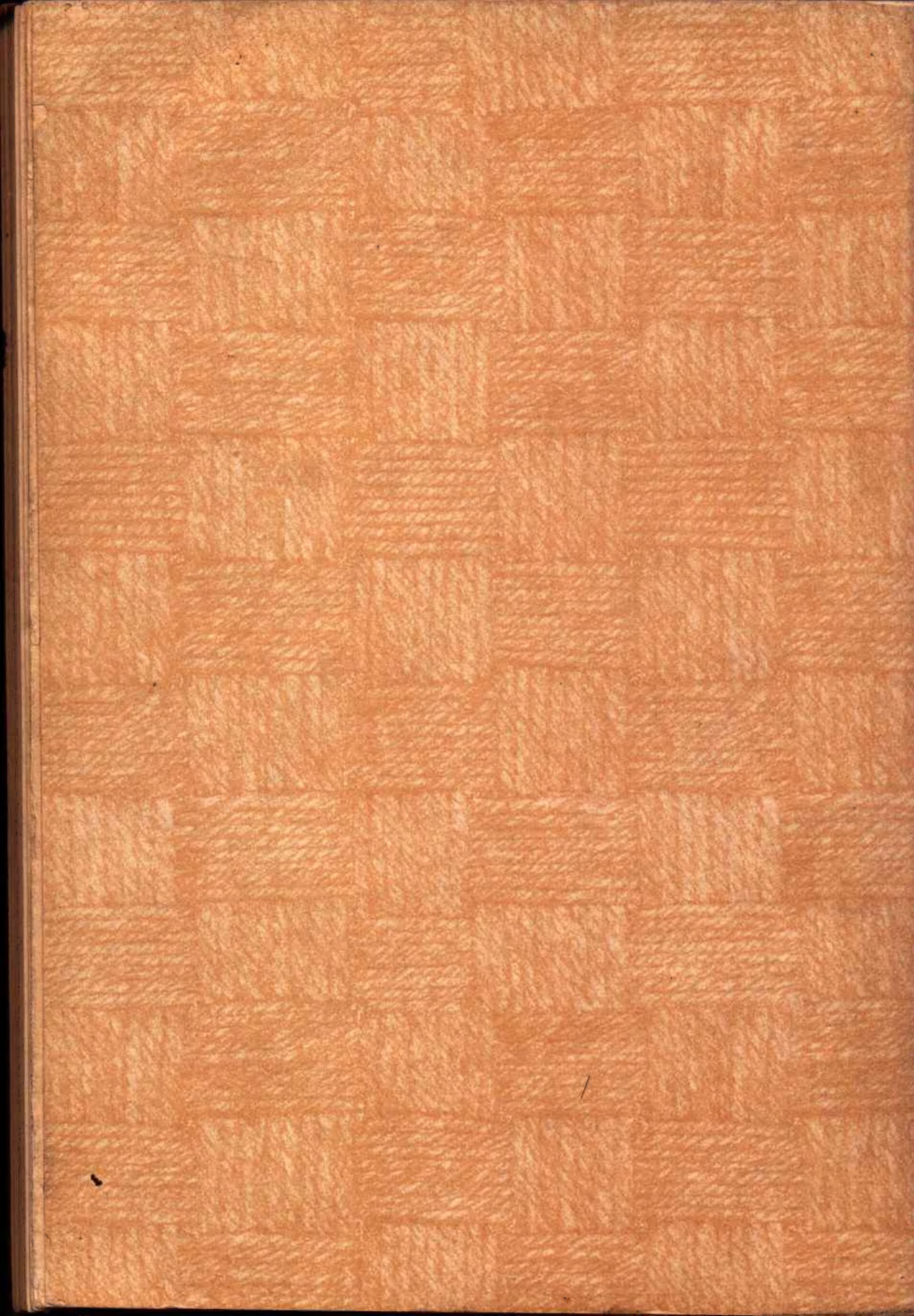
अपने में से वस्तु आदि का भाव निकल जाने पर प्राणी का जीवन प्रेम-पात्र के रहने योग्य हो जाता है, क्योंकि प्रेम पात्र निरन्तर उसी में निवास करते हैं, जिसने अपने में से सभी को निकाल दिया हो तथा अपने को सभी से हटा लिया हो। अथवा यों कहो कि सम्बन्ध-भाव अथवा मानी हुई अहंता का भाव शेष न रहने पर प्रेम-पात्र स्वयं निवास करते हैं।

प्रेम-पात्र आने के लिये प्रतीक्षा कर रहे हैं, क्योंकि वह केवल स्थान न मिलने के कारण नहीं आ पाते। प्यारे, प्रेमी से अधिक प्रेम-पात्र को प्रेमी की आवश्यकता है, क्योंकि प्रेमी के सिवाय और कहीं संसार में प्रेम-पात्र को स्थान नहीं मिलता।

प्रेमी प्रेम-पात्र में और प्रेम-पात्र प्रेमी में निरन्तर निवास करते हैं।

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !! ॐ आनन्द !!!





सन्त-समागम-भाग १